हिन्दुस्तानी एकेडेमी व्याख्यानमाला—१

मध्यकालीन
भारत की सामाजिक अवस्था

१९२७–२८

मध्यकालीन भारत की

सामाजिक और आर्थिक अवस्था

अर्थात्

संयुक्त-प्रदेश की हिन्दुस्तानी एकेडेमी की अवधानता में प्रयाग
में ता० २, ३, और ४ मार्च सन् १९२८ को दिए
गए व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद।

व्याख्यानदाता

अल्लामा अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, सी० बी० ई०,
एम० ए०, एल-एल० एम०

१९२९

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रदेश, प्रयाग।

परिचय

आगरा और अवध के संयुक्त-प्रान्त में हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना इस उद्देश्य से हुई है कि इसके द्वारा हिन्दी और उर्दू भाषाओं के साहित्य की उन्नति हो। उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बहुत से उपाय हैं जिनमें से एक यह है कि हिन्दुस्तानी विद्वानों को उर्दू और हिन्दी भाषाओं में विद्या-सम्बन्धी विषयों पर व्याख्यान देने का निमन्त्रण दिया जाय और उनके व्याख्यानों को प्रकाशित किया जाय। अत: इस सम्बन्ध में एकेडेमी ने मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली एम० ए०, एल-एल० एम०, सी० बी० ई० को "भारतीय इतिहास के मध्य-काल में सामाजिक और आर्थिक अवस्था" पर व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया। मिस्टर यूसुफ़ अली हिन्दुस्तान के भारी विद्वानों में से हैं। आप बहुत काल तक संयुक्त-प्रान्त में इम्पीरिअल सिविल सर्विस के सदस्य की हैसियत से रह चुके हैं और उस ज़माने में जब आप सरकारी पदों को भूषित कर रहे थे आपने और विषयों के अतिरिक्त हिन्दुस्तान के सामाजिक जीवन के अनेक अंशों पर अँगरेज़ी में लेख प्रकाशित किये। सरकारी पद का त्याग कर देने पर भी अपने चित्त की प्रवृत्ति के अनुसार आप विद्या-विषयक कामों में पूरे तौर पर दत्तचित्त हैं। आपने हिन्दुस्तान के इतिहास पर खोज की पैनी दृष्टि से विचार किया है और मुग़ल-काल के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में नई बातें प्रकट की हैं। आप की रचनाओं से जो अभिज्ञ हैं वह जानते हैं कि आप न केवल खोजी और भाषाविद् हैं, बल्कि बहुत ऊँचे दर्जे के साहित्यिक भी हैं।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया और आपके कारण हमारे व्याख्यानों का आरंभ बहुत सुन्दर रीति से हुआ। यह व्याख्यान इलाहाबाद युनिवर्सिटी के हाल में २, ३ और ४ मार्च को दिये गये। उपस्थित सज्जनों में इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज, युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर, इलाहाबाद के प्रतिष्ठित वकील और रईस शामिल थे। डाक्टर सर तेजबहादुर सप्रू, एम० ए०, एल-एल० डी०, के० सी०, एस० आई० हिन्दुस्तानी एकेडेमी के सभापति इन व्याख्यानों में सभापति के आसन को सुशोभित कर रहे थे। इन व्याख्यानों के अन्त में आनरेबिल डाक्टर शाह मुहम्मद सुलेमान जज हाईकोर्ट इलाहाबाद, डाकृर वेणीप्रसाद डी० एससी० (लंदन), मौलवी मुहम्मद अली नामी, एम० ए०, और मौलवी सैयद ज़ामिन अली, एम० ए० ने मिस्टर यूसुफ़ अली को धन्यवाद दिये। जो सज्जन इन जलसों में सम्मिलित हुए इन व्याख्यानों से अत्यन्त प्रसन्न हुए और इलाहाबाद की विद्वन्मंडलियों ने इन व्याख्यानों का बड़ी धूम से स्वागत किया। इन व्याख्यानों को प्रकाशित करना मानों एक हद तक इन्हें देश और काल के संकुचित बन्दी-गृह से मुक्त करना है। आशा है कि जो निमंत्रण थोड़े से चुने हुए मित्रों के आनन्द का कारण हो चुका है, यह अब बहुत काल तक सर्व-साधारण का मनोरंजन करता रहेगा।

ताराचन्द

मंत्री, हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

भूमिका

आर्थिक और सामाजिक विषय उर्दू में प्रायः नया है और उसके लिखने वाले की समता उस यात्री से हो सकती है जो किसी अप्रसिद्ध देश में पहले पहल प्रवेश करे। उसके लिए न कोई राज-मार्ग है और न गली कूचे हैं। घने जंगल को काटने के लिये उसके हाथ में हमेशा कुल्हाड़ी रहनी चाहिए और राह खोलने के लिए उसको अनेक अप्रचलित रीतियों से काम लेना होगा।

जिन लोगों को कभी किसी दूसरी भाषा से एकाध पृष्ठ भी उल्था करने का संयोग हुआ हो, और विशेषतः उस दशा में जब कि दूसरी भाषा में पारिभाषिक शब्दों की भरमार हो, वह भली भाँति समझते होंगे कि

गेसुए उर्दू अभी मिन्नत पिज़ीरे शाना है*।

आगे के पृष्ठों की तैयारी के लिए जिन ग्रंथों के पन्ने उलटने पड़ें, उनमें से आवश्यक बातों के उल्थे से परिभाषा-सम्बन्धी जो कठिनाइयाँ सामने आईं, उनकी अटकल आप इन पन्नों के पढ़ने के बाद भली भाँति कर सकेंगे। मुझे इस सम्बन्ध में केवल यह निवेदन करना है कि कोई कोई शब्द आपको अस्वाभाविक और अपरिचित से लगेंगे, परन्तु थोड़े से ही विचार और ध्यान से यह स्पष्ट हो जायगा कि पुरानी शृंखलाओं से थोड़े बहुत

---

* उर्दू की ज़ुल्फ़ अभी कंघी की कृतज्ञता से मुक्त नहीं हो सकती। अभी सँवारने की ज़रूरत बाक़ी है।

छुटकारे बिना काम नहीं चल सकता था। हाँ, मैंने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि इन परिभाषाओं और शब्दों से वाक्यावली की सुबोधता में अन्तर न पड़े और नये शब्द भरसक अच्छे से अच्छे हों।

इसके सिवा उर्दू में साधारणतया जिस ज़ोर के वाक्य लिखे जाते हैं वस्तुत: लिखने वाले का उद्देश्य उससे बहुत कम होता है। पढ़ने वाले भी उससे अभ्यस्त हो चुके हैं, बल्कि स्वयं लिखने बैठें तो वह भी मामूली सी बात कहने के लिये इसी तरह ज़ोरदार वाक्य काम में लायेंगे। परन्तु मैंने इन पत्रों में "अत्यन्त", "बेहद" और इसी तरह के दूसरे शब्द और वाक्य उसी जगह कहे हैं जहाँ उनकी वास्तविक आवश्यकता थी। संभव है आपको इस कारण भी कोई कोई वाक्य कुछ अपरिचित से लगें।

पाद-टिप्पणियों में लिखे हुए प्रमाणों के संकेतों की व्याख्या

अलबेरूनी—अलबेरूनी लिखित भारत के इतिहास का ई० सी० ज़ाख़ाउ (E. C. Sachau) कृत उल्था, दो जिल्दों में। (London, 1910.)

आल्हाखंड—विलियम वाटर फ़ील्ड William (Waterfield) कृत अँग्रेज़ी उल्था। (Oxford 1923.)

बाघ—बाघ की गुफाएँ (India Society, London, 1927.)

बतूता—इब्नबतूता की यात्रा। सी० डी० फ़्रेमेरी (C. Defremery और डाक्टर बी० आर० संग्विनेट्टि (B. R. Sanguinetti) कृत फ़रासीसी में उल्था। (4 vols. Paris. 1874—9)

एलियट—एलियट और डौसन का लिखा भारत का इतिहास। [Sir H. M. Elliot and J. Dowson: History of India as told by its own historians, 8 Vols. London, 1867—1877]

भारतीय-लिपि-माला—Epigraphia Indica, vol. XV (1919-20). Calcutta, 1917.

मुसलिम-भारत-लिपिमाला—Epigraphia Indo-Moslemica, 1913-14. Calcutta 1917.

एटिंगहैज़ेन—एम्० एल्० एटिंगहैज़ेन लिखित "हर्षवर्धन", फ़रासीसी भाषा में। [M. L. Ettinghausen, Harshavardhna. Paris, 1906.]

फ़िरिश्ता—फ़िरिश्तालिखित भारत के इतिहास का अँग्रेज़ी उल्था। [By J. Briggs, 4 vols. London, 1829.]

हर्षचरित—बाणभट्ट-कृत हर्षचरित का अंग्रेज़ी अनुवाद। [E. B. Cowell and F. W. Thomas. London, 1897.]

अजंता—अँग्रेज़ी में लेडी हेरिंघम का लिखा अजन्ता के खोहों का वर्णन। [Lady Herringham's Ajanta Frescoes, India Society, London, 1915.]

कादम्बरी—बाणभट्ट की कादम्बरी का अँग्रेज़ी अनुवाद। [Kadambari of Bana, translated by C. M. Ridding. London, 1896.]

कैथ—संस्कृत-ड्रामा, ए० बी० कैथ रचित। (A. B. Keith's The Sanskrit Drama. Oxford, 1924.)

कथासरित्सागर—सोमदेवरचित। अँग्रेज़ी उल्था। [Translated by C. H. Tawney and edited by H. M. Penzer, 10 vols 1924.]

लल्ल—लल्लावाक्यानि। अँग्रेज़ी उल्था। [The Word of Lalla the Prophetess, translated by Sir Richard C. Temple. Cambridge, 1921.]

नागानन्द—श्रीहर्ष-रचित। अँग्रेज़ी उल्था [Trans. by Palmer Boyd. London, 1872.]

स्मिथ का इतिहास—Oxford History of India, by Vincent A. Smith. Oxford 1919.

मारको पोलो—मारको पोलो की यात्रा। [Book of Sir Marco Polo translated by H. Yule, 2 Vols. London, 1871.]

प्रियदर्शिका—हर्षरचित नाटिका का अँग्रेज़ी उल्था। Translated by G. K. Nariman, A. V. W. Jackson and C. J. Ogden. New York. Columbia University Press, 1923.]

क़िरानुस्सादैन—अमीर ख़ुसरो का प्रसिद्ध फ़ारसी काव्य। उर्दू प्रस्तावना सहित। सैयद हसन बरनी द्वारा सम्पादित। अलीगढ़, १९१८।

रत्नावली—श्रीहर्ष-कृत नाटिका। श्री शारदा-रंजन राय कृत अँग्रेज़ी अनुवाद। कलकत्ता। १९१९।

कर्पूरमंजरी—राजशेखर कृत नाटिका। अँग्रेज़ी उल्था सहित। [Text edited by Sten Konow. English translation by C. H. Lanman. Harvard University Press, Cambr. Mass. 1901.]

टामस—दिल्ली के पठान बादशाहों के राज्य का इतिहास, [E. Thomas, Chronicles of the Pathan Kings of Delhi. London, 1871.]

तीन मुसाफ़िर—यूसुफ़ अली कृत। [Three Travellers to India, by A. Yusuf Ali, Lahore. R. S. Gulab Singh and Sons, 1926.]

टाड—राजस्थान, [Annuals and Antiquities of Rajasthan, ed. W. Crooke, 3 vols., Oxford, 1920.]

वैद्य—अँग्रेज़ी में श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य रचित "मध्यकालीन हिन्दू-भारत।" Mediæval Hindu India, 3 vols., Poona, 1926.

युवान्च्वांग—युवानच्वांग की भारत-यात्रा। [Yuan Chwang's Travels in India, by Thomas Watters, 2 vols. London, 1904.]

विषय-सूची

पहला व्याख्यान—भूमिका

दूसरा व्याख्यान—ईसा की सातवीं शताब्दी

पहला व्याख्यान

भूमिका

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने अपनी व्याख्यान-माला का आरंभ भारत के मध्यकालीन इतिहास से किया है और इस उद्देश्य के लिए मुझको निमंत्रित करके जो सन्मान प्रदान किया है, उसे मैं पूर्ण रीति से अनुभव करता हूँ।

एकेडेमी और उर्दू

इस एकेडेमी का आरंभ स्वतः काल की गति का दर्पण है। जैसा कि आपको मालूम है मेरा नाम बरसों से इन प्रान्तों में उर्दू भाषा और साहित्य की खोज और व्याख्या से सम्बद्ध रहा है। जब मैं हैदराबाद में था तो मुझे वहाँ के उर्दू-सम्बन्धी आन्दोलन और उसमानिया विद्यापीठ के सम्बन्ध में आरंभिक उद्योगों में भाग लेने का गौरव भी प्राप्त हुआ। उस समय वहाँ उल्था का एक विभाग था जो अब भी विद्यमान है। उसका उद्देश्य यह है कि अपनी भाषा को ऐसी मौलिक रचनाओं और प्रामाणिक ग्रंथों के उल्थों से समृद्ध किया जाय जो विद्यापीठ में उर्दू भाषा द्वारा अध्ययन और अध्यापन के लिए उपयुक्त हों। मैंने उनके लिए एक छोटी सी पुस्तिका लिखी थी जिसका उद्देश्य उर्दू में लिखने के और छपने के ढंग को सुव्यवस्थित करना था।

उर्दू-टाइप

मैंने उर्दू में टाइप के प्रचार के लिए भी प्रयत्न किया था और अब भी उसका समर्थक हूँ। उर्दू के अधिकांश विशेषज्ञों की तरह मैं भी वर्त्तमान उर्दू-टाइप और टाइप में छपी उर्दू किताबों से जो आये दिन सरकारी और दूसरे यंत्रालयों से निकलती रहती हैं; सन्तुष्ट नहीं हूँ। उर्दू अक्षरों के सभी विविध रूपों को जो हाथ की लिखाई में देखने में आती हैं, टैप में नक़ल करना आज तक श्रमफल ही सिद्ध हुआ है। लिखावट का सौन्दर्य्य कई बातों पर निर्भर है। जैसे, अक्षरों की गोलाई और अर्द्धवृत्तों के रूप और बड़ाई छुटाई में अवसरानुकूल नवीन आकार प्रकार उत्पन्न करना, और एक विशेष अक्षर का रूप, उसके किसी शब्द के आदि, मध्य या अन्त में आने पर अवस्था के अनुसार बदलना। छपाई का सौन्दर्य्य यह है कि अक्षरों के रूप और बड़ाई छुटाई में समानता हो, पंक्तियाँ रेखागणित की शुद्धता के साथ बराबर बराबर हों और पहली ही निगाह में पढ़ लेना एक सहज काम और स्वादसौंदर्य्य बन जाय। यदि एक ही अक्षर को दो दो तीन तीन रूप दे दिये जायँ तो टाइप के अक्षरों की संख्या किसी के बस का रोग न रहेगी और इससे अक्षरों को जोड़नेवाले का काम आवश्यक रीति से कठिन और महँगा हो जायगा। और आप जानते हैं कि वर्त्तमान काल की व्यापारी छपाई में लागत ऐसा अंश नहीं है कि उस पर विचार करने की आवश्यकता न हो। टाइप के सम्बन्ध में लोगों के विचार पहले से ही विपाक्त हो चुके हैं। इसलिए इसमें सफलता उसी दशा में हो सकती है कि टाइप की छपाई लीथो से अधिक अच्छी और अधिक सस्ती हो। यह कल्पना ठीक नहीं है कि टाइप की छपाई सुन्दर और दर्शनीय नहीं हो सकती। उसकी बुराई और

भलाई की जाँच लीथो की छपाई और हाथ की लिखाई से सर्वथा अलग और केवल इसी से विशेषता रखनेवाली होगी। हमारा पहला काम तो एक सस्ते और भरसक अच्छे टाइप का प्रचार है, फिर ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा, सुन्दर और दर्शनीय टाइप भी निकल आयेंगे और आदर्श नित्य ऊँचा उठता जायगा। टाइप के अधिकाधिक सुन्दर होने का रहस्य छपाई की सफाई और शुद्धता में निहित है। वर्त्तमान काल में जिस भाषा का सारा अवलम्ब लीथो पर हो और छपाई के सम्बन्ध के टटके टटके आविष्कारों से लाभान्वित न हो सकती हो, यथेष्ट उन्नति तो दूर की बात है, वह अपनी आवश्यकताओं से भी निपट नहीं सकती।

सम्मिलित भाषा या साझे की भाषा

आपने अपनी एकेडेमी को "हिन्दुस्तानी एकेडेमी" नाम देकर बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया है। इससे देश की भाषा को इन प्रान्तों और देश के अन्य भागों में भरसक एक रंग की बनाने की इस इच्छा को बहुत कुछ पुष्टि मिल गई जो हर ज़िम्मेदार हिन्दुस्तानी अपने हृदय में अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त मेरा यह भी विचार है कि आपने वर्त्तमान अवस्थाओं से आँखें नहीं मूँद लीं बल्कि आप हमारी सम्मिलित हिन्दुस्तानी भाषा के दोनों रूपों की, अर्थात् उर्दू और हिन्दी दोनों लिपियों की उन्नति में यत्नवान् हैं। मैं इस मंगलमय आन्दोलन का हृदय के अन्तस्तल से समर्थन करता हूँ जिससे हमारी भाषा के भिन्न रूपों में सुसंगति उत्पन्न होकर एक सम्मिलित आदर्श स्थापित हो जाने की आशा हो सकती है। मेरा विचार है कि अगर हमें इस उद्देश्य में यहाँ सफलता मिल गई तो इसका प्रभाव संयुक्त-प्रान्तों की सीमा से बाहर भी पड़ेगा। एक प्रकार की मिश्रित हिन्दुस्तानी अब भी देश के बड़े विस्तार में

हिन्दुस्तानियों की सम्मिलित भाषा है। अगर हम इसे हिन्दुस्तान भर में साहित्यिक और कारबारी विचारों के प्रकट करने का साधन बना सकें तो इससे भिन्न धर्म्म और सम्प्रदाय के लोगों के विचार, बातचीत और रीति-नीति में बहुत कुछ संगति और आपसदारी पैदा हो जायगी और इस तरह उस जातीय जीवन के विकास की बहुत कुछ पुष्टि होगी, जिसकी इच्छा मातृभूमि के हर सुपुत्र के हृदय में तरंगित हो रही है।

एकेडेमी का प्रधान स्थान और सरकार से सम्बन्ध

एकेडेमी का प्रधान स्थान संयुक्त-प्रान्तों की राजधानी में नियुक्त करने से एक केन्द्रीय हैसियत मिल गई है जो कई दृष्टियों से उपयोगी है। यद्यपि उर्दू-साहित्य के केन्द्र लखनऊ, दिल्ली और हैदराबाद (दक्षिण) समझे जाते हैं, तथापि कई कारणों से प्रयाग का शान्त वायुमंडल श्रेयस्कर है। दिल्ली अब भारत की राजनीतिक राजधानी है, इसलिए राजनीतिक आन्दोलनों के हड़बोंग का उत्साहस्थल बन रही है। लखनऊ निस्सन्देह एक चित्ताकर्षक नगर है और उर्दू-साहित्य के पिछले इतिहास की दृष्टि से प्रयाग की अपेक्षा अधिक योग्य ठहराये जाने का दावा कर सकता है। मैं लखनऊ की अंजुमने उर्दू का सभापति रह चुका हूँ, इसलिए यह भ्रम उत्पन्न नहीं होना चाहिए कि मैं किसी तरह लखनऊ के अधिकारों को भुला रहा हूँ। परन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि सरकार से एकेडेमी का सम्बन्ध होने के कारण प्रयाग को इसका केन्द्र नियुक्त करने में अधिक सुभीता रहेगा। एकेडेमी का सरकार से सम्बन्ध इसकी दृढ़ता के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा और इससे एकेडेमी को वह जीवन और पुष्टि मिलेगी जो भारत की वर्त्तमान अवस्था में केवल शासन की कृपा-दृष्टि से ही संभव

है। परन्तु मुझे पूरी आशा है कि संयुक्त-प्रान्त के पाँचों विश्व-विद्यालय और संभवतः दूसरे विश्वविद्यालय और उर्दू-साहित्य से सहानुभूति और रस रखनेवाली ग़ैर सरकारी अंजुमनें सभाएँ भी एकेडेमी के उद्देश्यों और ध्येयों की पूर्त्ति के लिए आपसे सहकारिता करेंगी।

यूरोप के मध्ययुग

आपका आदेश है कि मैं भारत के इतिहास के मध्ययुगों पर व्याख्या करूँ। अब देखना यह है कि इस "मध्ययुग" या "मध्यकाल" से कौन सा काल समझा जाय। यूरोप के इतिहास में यद्यपि मध्यकाल का ठीक निश्चय नहीं हुआ, तो भी इससे थोड़ा बहुत वही काल समझा जाता है जो पश्चिमी रोम-साम्राज्य के विनाशकाल से (सन् ४७६ से) आरंभ होकर तुर्कों-द्वारा कुस्तुन-तुनिया की विजय के समय (सन् १४५३) समाप्त होता है। यह लगभग एक सहस्र वर्ष का समय निश्चय ही यूरोप बल्कि सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के इतिहास के विकास में एक विशेष और महत्त्वशाली पड़ाव की हैसियत रखता है। यह मध्यकाल यूरोप के प्राचीन प्रामाणिक साहित्य के युग को उसके वर्त्तमान इतिहास से मिलाता है। प्राचीन यूनानी और रोमन उत्कर्ष के समय में जिन जातियों और नगरों का सिक्का जारी था उनके राजनीतिक महत्ता के धीरे धीरे पतन का समय यही है। इस युग में यूरोप के भिन्न भिन्न वंशों का नये सिरे से संगठन हुआ, जर्मन गाथिक और स्कैंडिनेवियन की रीति-नीति सारे यूरोप में फैल गई और फिर धीरे धीरे उसी प्राचीन साहित्यवाली सभ्यता से प्रभावित (जिसकी शक्तियों का अब ह्रास हो रहा था) इन अभिनव सभ्यताओं का रंग-रूप बदलने लगा। इस युग में रोमन-कैथलिक-सम्प्रदाय और पोप के शासन और

फिर सारे यूरोप में इसके साधारण प्रभाव और प्रभुत्व की बदौलत एक विशेष हद तक समानता और समान विचार की उत्पत्ति हो गई। इसी काल में (Feudalism) वंश-राज्य के विशेष रीति-नीति और नियम और मान और प्रतिष्ठा के आदर्श प्रकट हुए और अन्ततः यूरोप के विविध-देशों में बलवान् और जातिविशिष्ट शासन की स्थापना से मिट मिटाकर रह गये। इन विशेषताओं में इस बात को भी जोड़ लो कि इस काल का इतिहास अन्धकार के आवरण में छिपा सा दीखता है। और विपरीत इसके प्राचीन और वर्त्तमान इतिहास में लोगों का जीवन-यापन, विचार और स्वभाव और सामाजिक नियम पर्य्याप्त स्पष्ट और प्रकट हैं।

भारत के इतिहास में मध्यकाल

क्या हिन्दुस्तान के इतिहास में भी कोई ऐसी ही विशेषताएँ मिलती हैं जिनके सहारे हम एक काफ़ी भारी मुद्दत निश्चित करके उसे मध्यकाल का नाम दे सकें? मैं प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों के प्रचलित क्रम को, जिसके अनुसार भारत के इतिहास को बुद्ध-पूर्व, बौद्ध, हिन्दू, मुसलिम और अँगरेज़ी युगों में विभक्त किया जाता है, न तो शास्त्रीय रीति से शुद्ध मानता हूँ और न शास्त्र की दृष्टि से उपयोगी समझता हूँ। हम नहीं जानते कि बौद्धमत का प्रचार वास्तविक अर्थों में कब तक रहा और न इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध है कि इस युग में ब्राह्मण-धर्म का सर्वथा लोप हो चुका था। इसके सिवा "हिन्दू" शब्द से भी किसी युग को विविक्त और स्पष्ट रीति से दूसरे से भिन्न समझने में कोई मदद नहीं मिलती। इसी तरह मुसलिम और अँगरेज़ी काल का भी निश्चय कठिन है। उचित रीति यह है कि हम अपने इतिहास को तीन बड़े बड़े युगों में विभक्त कर लें, अर्थात् प्राचीन, मध्य और नवीन। साधारण अर्थ

में इतिहासकाल के आरम्भ होने से पहले के युग के सम्बन्ध में भी हमारे पास पर्य्याप्त सामग्री मौजूद है, परन्तु इसकी कोई विशेष तिथियाँ निश्चित नहीं हो सकतीं। हाँ, हम इस सारी सामग्री को एक काल में गुम्फित करके इसका नाम "इतिहास-पूर्व का युग" रख सकते हैं। परन्तु कठिनाई उस समय आगे आती है जब हम उस युग का तिथिक्रम निश्चित करने लगते हैं। यह संभव है कि "इतिहास-पूर्व" के युग की समीपतम सीमा गौतम बुद्ध के जन्मकाल तक रखी जाय और फिर प्राचीन इतिहास का आरंभ बौद्धमत के प्रचारकाल से समझें। परन्तु हिन्दुस्तान के प्राचीन काल की समाप्ति कहाँ की जाय? केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया में तो इसे ईसवी सन् के आरंभ तक पहुँचाया गया है। मिस्टर के० डी० बी० काडरिंग्टन के लेख से प्रकट होता है कि वह भारत के प्राचीन युग की समाप्ति गुप्तवंश तक समझते हैं। मिस्टर सी० वी० वैद्य ने अपनी पुस्तक "भारत का मध्यकाल" में, [जिसकी तीन जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं और एक अभी बाक़ी है,] हमारे इतिहास के मध्ययुग का आरंभ सन् ६०० ई० से आरंभ किया है और सन् १२०० ईसवी पर समाप्त किया है। आपके युनिवर्सिटी स्कूल आफ़ हिस्ट्री के मिस्टर ईश्वरीप्रसाद इस हिन्दू मध्ययुग का आरंभ सन् ६४७ ई० से अर्थात् महाराजा हर्ष की मृत्यु से करते हैं और उसका अन्त उन्होंने मुग़लों के भारत-विजय के अवसर पर किया है। आगे चल कर पता लगेगा कि मध्ययुग के इस सीमानिर्धारण के पक्ष में बहुत से प्रमाण हैं।

हर्ष से पृथ्वीराज तक

यूरोप के इतिहास की जिन विशेषताओं की ऊपर चर्चा हो चुकी है यदि उनके मुक़ाबले में कुछ ऐसी ही स्पष्ट विशेषताएँ भारत के

इतिहास में भी मिल जायँ तो हमें एक विशेषकाल निश्चित करके मध्ययुग कहने में बहुत सुभीता हो जाय। यदि असभ्य जातियों के समय समय पर भारत में प्रवेश करने पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि अब से थोड़ी ही शताब्दी पहले तक कोई समय ऐसा नहीं बीता जब भारतवर्ष इन आक्रमणों से पूर्णतया सुरक्षित रहा हो। हमें मालूम नहीं कि आर्य्यों के आक्रमण से पहले भारतवर्ष पर कौन कौन सी जातियों ने आक्रमण किये, परन्तु इस बात का पूरा प्रमाण मौजूद है कि सिन्धु की घाटी को इराक़ की प्राचीन सभ्यता से कुछ न कुछ सम्बन्ध ज़रूर था। स्वयं आर्य्याक्रमण भी पर्य्याप्त रूप से दीर्घकाल तक जारी थे। इस बड़े काल में बहुत से आर्य्यवंश समय समय पर भारत में आये जो देश की भाषा के विकास पर अपनी छाप लगा गये हैं। जब हिन्दी आर्य्य देश में बस गये और देश के मूलनिवासियों से कुछ संमिश्रित होने लगे, इसके बाद ईरानी और यूनानी जातियों ने चढ़ाई की और फिर इनके बाद तूरानियों और मध्य-एशिया के मिश्रित वंशों की चढ़ाइयों ने ज़ोर पकड़ा। यह सिलसिला सन् ईसवी के आरंभ से कुछ शताब्दी पीछे तक जारी रहा। गुप्तवंश के शासन-काल (सन् ३२० ई० से ४५५ ई० तक) की दृढ़ और सुसंगठित सभ्यता अपने पहले और पीछे की अराजकता की मरु भूमि में एक सुरम्य मालवस्थली जान पड़ती है। सभ्यता और शासन की दृष्टि से महाराजा हर्षवर्धन का काल (सन् ६०६ से ६४७ ई० तक) गुप्त-सभ्यता की एक अन्तिम झलक मालूम होता है। हर्ष के पीछे बहुत सी चढ़ाइयाँ हुईं जिनका विस्तृत विवरण हमको पूर्णतया उपलब्ध नहीं है। परन्तु यह बात पूरी तौर पर प्रकट है कि हर्ष के पीछे चार शताब्दियों तक बहुत से विदेशी वंश भारत में आकर यहाँ के निवासियों में संमिश्रित होते रहे। अब इस संमिश्रण का वेग पहले

से बहुत बढ़ गया था और हूण, गूजर, जाट के प्रभाव के कारण, जो राजपूत-वंशों का मूलस्रोत था, भारतनिवासियों का उपजाति-विभाग नये सिरे से हो गया। वास्तव में हम इन चार शताब्दियों को "राजपूतकाल" का नाम दे सकते हैं। यदि हम राजपूतों के प्रभुत्व का काल दिल्ली के पृथ्वीराज के देहावसान पर (सन् ११९३ ई०) समाप्त करें तो मेरे विचार से अंधकार का एक पर्य्याप्त विस्तृत काल बन जाता है जिसे हम उचित रीति से मध्ययुग का आरंभ ठहरा सकते हैं।

पृथ्वीराज से मुग़लों के राज्य तक

परन्तु राजपूत-वंशों का यह नवीन संगठन भारत की जनता का कोई स्थिर विभाग और क्रम सिद्ध न हुआ। मुसलिम आक्रमण जिनके साथ बहुत से नये नये वंश, नये नये राज्यप्रबन्ध और नीति-विधान की दृढ़ और स्पष्ट परंपरा भारत में आगई और भारत के सामाजिक और राजनीतिक अवस्था के समुद्र को मथ मथ कर बराबर क्रान्ति उत्पन्न करती रही। इससे भी अधिक महत्त्व की यह बात है कि मुसलिम सभ्यता हिन्दूधर्म में आत्मसात हो जाने के बदले एक स्पष्ट और सदा के लिए विरोधी शील की उत्पत्ति का कारण हुई। लगभग सन् १००० से सन् १३१० ई० तक मुसलिम प्रभुता और शासन की लहरें कभी कम और कभी अधिक वेग से भारत में लगातार आती रहीं, यहाँ तक कि चौदहवीं शताब्दी ईसवी के आरंभ में लगभग सारा भारत, दक्षिणसमेत, मुसलिम प्रभुता से प्रभावान्वित और इसका बहुत बड़ा भाग सीधे मुसलिम शासन के अधीन हो गया। परन्तु इस समय भी समाज का कोई संगठन और क्रम न था और न उसके सामूहिक और राजनीतिक एवं आर्थिक विकास के लिए कोई क्षेत्र ही था। लगभग सन् १३१० ई० और

सन् १५२६ ई० के बीच दिल्ली के राज्य के पतन के कारण बहुत सी स्थानीय रियासतें पैदा हो गईं। यह भी अधिकांश मुसलिम ही थीं। इनकी कोई निश्चित सीमाएँ न थीं और किसी रियासत के लिए भी किसी विशेष राजनीतिक संगठन को व्यवहार में लाना सहज न था। सन् १५२६ ई० में मुग़लों के भारत में प्रवेश कर लेने पर वायुमंडल में एक नई क्रान्ति देख पड़ी। अब यदि राजनीतिक प्रभुत्व में नहीं तो कम से कम सामाजिक और राजनीतिक नीति और व्यवहार के अनुसरण में थोड़ी बहुत दृढ़ता, कुछ संस्थापना और थोड़ी बहुत धृति उत्पन्न हो गई थी।

भारत के मध्ययुग के तीन विभाग

इसलिए मेरे विचार से यह श्रेयस्कर होगा कि भारत के मध्ययुग का आरंभ हर्ष की मृत्यु से (अर्थात् लगभग सातवीं शताब्दी के मध्य से) और अन्त मुग़ल-शासन की स्थापना पर (अर्थात् लगभग सोलहवीं शताब्दी के मध्य) समझा जाय। नव शताब्दियों का लम्बा काल फिर तीन स्पष्ट विभागों में विभक्त हो सकता है अर्थात् (१) हिन्दू-समाज के लिये आरंभ से ही संगठन और नियमन का काल, (सन् ६४७ ई० से सन् १००० ई० तक), (२) मुसलिम प्रभुत्व के धीरे धीरे फैलने से प्रभावान्वित होकर भारतीय समाज के अधिक क्रम-नियमन और संगठन का काल (लगभग सन् १००० से सन् १३१० ई० तक), और (३) दिल्ली की बादशाही का पतन जिससे बहुत सी छोटी छोटी स्वाधीन रियासतें बन गईं और इस कारण भारत में राष्ट्रीयता की दृष्टि से एकता के व्यवहार का लोप होगया था जिसका फल यह हुआ कि मुग़ल-आक्रमणों ने भारत पर अधिकार कर लिया (सन् १३१० से १५२६ ई० तक) हमें यह सब कुछ इस प्रस्तावनात्मक व्याख्या के बाद तीन व्याख्यानों

में समाप्त करना है इसलिए सर्वोत्तम उपाय यह होगा कि प्रत्येक युग अनुशीलन का आधार ऐसे प्रमाणों पर रखा जाय जो उसके आरंभ को स्पष्ट करते हों। मध्यकाल के उपर्युक्त विभाग से एक और लाभ यह होगा कि यह विभाग किसी हद तक यूरोप के मध्यकाल के विभाग से मिलता-जुलता है और इसलिए भारत के मध्यकाल के अनुशीलन के साथ ही साथ दोनों के इतिहास का परस्पर मिलान भी सहज ही हो सकेगा। यदि मध्यकाल का यह सीमा-निर्धारण ठीक मान लिया जाय तो मुग़ल-शासन-काल और अँगरेज़ी शासन-काल दोनों को मिलाकर वर्त्तमान युग या काल होगा जिनके बीच कोई नई क्रान्ति अचानक देखने में नहीं आई, प्रत्युत क्रमशः परिवर्त्तन होता रहा है। स्वयं मुग़ल भी वर्त्तमान काल के आन्दोलन से प्रभावान्वित हुए बिना नहीं रहे और उनके सम्बन्ध पाश्चात्य आर्थिक और राजनीतिक संसार से भी थे। मुग़लों के शासन-काल में पूर्वी समुद्रों में यूरोपवालों की कर्मण्यता के विस्तार के कारण वैदेशिक सामुद्रिक व्यापार धीरे धीरे उन्नति करता गया जिससे भारत का आर्थिक जीवन अधिकाधिक वर्त्तमान-रूप धारण करने लगा।

दूसरा व्याख्यान

(ईसा की सातवीं शताब्दी)

आर्थिक और सामाजिक दशाएँ

यह मान लेने के बाद कि हमारे मध्यकाल सातवीं शताब्दी के मध्य से आरंभ होकर सोलहवीं शताब्दी के मध्य में समाप्त हो जाते हैं, हम सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं के अनुशीलन के लिये तीन प्रमुख शासनकाल बहुत सुभीते से चुन सकते हैं जिनसे इन विभागों का आरंभ होता है। पहला राज्यकाल जो मैं चुनूँगा महाराज हर्ष का राजत्व काल है। इसमें हमारे अनुशीलन के लिये पर्य्याप्त सामग्री उपलब्ध है। यद्यपि आर्थिक अनुशीलन के लिये पूरी सामग्री नहीं मिलती, तो भी सामाजिक जीवन का हम प्राय: पूरा चित्र खींच सकते हैं। परन्तु आर्थिक और सामाजिक विषय प्राय: ऐसे मिले जुले होते हैं कि उनमें कोई स्पष्ट विभाजक रेखा निश्चित नहीं की जा सकती। अब हम उन विषयों की एक संक्षिप्त आलोचना करेंगे जो इस काल के सम्बन्ध के प्रमाणों का बड़ी सावधानी से और ध्यान से अनुशीलन करने पर उपलब्ध होते हैं।

प्रमाणपत्र और साक्षी

(क) रूपक

इन साक्षियों को चार समूहों में बाँट सकते हैं। पहला समूह उस समय का रूपक काव्य है जिसके प्रतिनिधि का काम

वह तीन रूपक बड़े सौंदर्य्य से करते हैं जो स्वयं महाराज हर्षवर्धन के लिखे हुए बतलाये जाते हैं अर्थात् प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएँ और नागानन्द नाटक। प्राय: सभी विशेषज्ञ इन तीनों को एक ही व्यक्ति की रचना ठहराने के पक्ष में हैं। यदि यह रूपक वस्तुत: और पूर्णत: महाराजा हर्ष की रचना न भी हों तो भी इस बारे में तो सन्देह की कोई समाई नहीं दीखती कि यह तीनों उनकी संरक्षकता में रचे गये थे। हमारे उद्देश्य के लिये इतना ही जान लेना पर्य्याप्त है कि यह लगभग किस काल में लिखे गये और जब कि इस संबन्ध में रत्ती भर सन्देह या मतभेद नहीं है इसलिए हमें यह विश्वास कर लेने में कोई बाधा नहीं है कि जिन घटनाओं का इन रूपकों में उल्लेख है वह सातवीं शताब्दी के सामाजिक जीवन का ठीक ठीक चित्र उतारती हैं। यह तो ठीक है कि इन नाटकों की दृष्टि-परिधि बहुत संकुचित है। यह केवल दरबार और दरबारी सरदारों के मनोरंजन के लिये बनाये गये थे। इनके वस्तु विषय भी अन्त:पुर की प्रेम घटनाओं के विशेष पक्षों तक ही मर्य्यादित हैं। परन्तु इतना होते हुए भी जिस काल में यह लिखे गये थे उसके वास्तविक जीवन का अटकल लगाने के लिये बहुत महत्त्व के हैं।

(ख) बाणभट्ट का गद्यकाव्य और उपन्यास

प्रमाणपत्रों का दूसरा समूह बाणभट्ट के दो गद्यकाव्य हैं। यह हर्ष का दरबारी था। और अपने समय के शील और आचार के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट और उपयोगी वर्णन छोड़ गया है। इनमें से हर्षचरित महाराजा हर्षवर्धन के आरंभिक जीवन के वृत्तों और घटनाओं पर अवलम्बित प्रशंसात्मक कथा है जिसमें उनके वंश की उन्नति और महत्ता की भी गद्य कविता में चर्चा की गई

है। दूसरी रचना कादम्बरी है जो संस्कृत गद्य का एक उत्तम नमूना है और सभी कालों में भारत के विद्वानों से प्रशंसा का कर उगाहती आई है। इसमें एक अद्‌भुत शुक की कहानी अत्यन्त मनोमोहक और एचपेच के ढंग से वर्णन की गई है वास्तविकता और सत्य के वाह्य वायुमंडल में प्रेम और शृंगार, वीरता और अलौकिक रीति से रूपपरिवर्तन की मनोरंजक कथाएँ (कथाओं के वीच में कथाएँ) अत्यन्त सौन्दर्य्य और सफलता से समाविष्ट हैं। बाणभट्ट ने जीवन के विविध अंगों के चित्रण के समय उसके अंश अंश को वड़े मनोयोग और श्रम से रंजित किया है। जीवन के चित्रण में बहुत सूक्ष्म रंजन के सम्बन्ध में उसका ढंग वर्त्तमान काल के अँगरेज़ी साहित्य में काम्पटन मेकेंज़ी के उपन्यासों के सदृश है। परन्तु बाणभट्ट की मेकेंज़ी से वही समानता है जो प्राच्य उत्कीर्णन के उत्तम नमूने की किसी यूरोपीय ज़रदोज़ की दर्शनीय कारीगरी से हो सकती है। बाण के रंगीन और जड़ाऊ शब्दचित्रण में अत्युक्ति का बहुत कुछ प्रवेश है, परन्तु इस अत्युक्ति को निकाल देने पर भी हमारे पास उस काल का एक ऐसा पूरा चित्र रह जाता है जो उससे कई शताब्दी बाद के समय के संबन्ध में भी कहीं नहीं मिलता। इन दोनों रचनाओं के अत्युत्तम अँगरेज़ी अनुवाद पढ़ने के लिये प्राप्य हैं, जो लंदन की (Oriental Translation Fund Series) प्राच्य ग्रंथमाला में समाविष्ट हैं। कादम्बरी का अनुवाद (Miss C. M. Ridding) मिस० सी० एम्० रिडिंग ने और हर्ष-चरित का अनुवाद (E. B. Cowell & F. W. Thomas) ई० बी० कावेल और एफ़० डवल्यू० टामस ने किया है। यदि हिन्दुस्तानी एकेडेमी संस्कृत ग्रंथों का उर्दू में उल्था करने की इच्छुक हो तो इन दोनों अनुवादों की दृढ़ता से सिफ़ारिश की जा सकती है। इस बात का निश्चय कि इनका उर्दू में अनुवाद हो भी

सकता है या नहीं, हम उन लोगों पर छोड़ देते हैं जो इस कठिन मार्ग के यात्री होने का साहस करें।

(ग) चीनी यात्री

इस समयविभाग के सम्बन्ध में प्रामाणिक साक्षियों के तीसरे समूह में युवान्च्वांग की [जिसे ह्यूँत्सांग भी लिखते हैं] यात्रा और जीवनी सम्मिलित हैं जो चीनी भाषा में लिखी गई थीं। यात्रा का सबसे हाल का और उत्तम उल्था वह है जो (Thomas Watters) टामस वाटर्स ने किया है। (Oriental Translation Fund) और उसकी जीवनी का केवल एक ही अँगरेज़ी अनुवाद है जो (Mr. S. Beal) मिस्टर एस्० बील ने किया था और अब से कोई एक शताब्दी पहले प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद शुद्धता की दृष्टि से कुछ अधिक विश्वसनीय नहीं है। मैंने अपनी छोटी सी अँगरेज़ी पुस्तिका (Three Travellers to India) "भारत में तीन यात्री" में भारत के सम्बन्ध में इस चीनी यात्री के वर्णन का एक संक्षिप्त सा रेखाचित्र दे रखा है। यह पुस्तक पंजाब विश्वविद्यालय की प्रवेशिका के पाठ्यग्रन्थों में सम्मिलित है।

(घ) लिपियाँ और सूक्ष्म कलाएँ

प्रामाणिक साक्षियों का चौथा समूह सिक्कों और लिपियों और उस समय की कांसकारी और खुदाई के नमूने हैं। जहाँ तक हर्ष के शासनकाल के सिक्कों का सम्बन्ध है हमारे पास उनके बहुत कम नमूने मौजूद हैं। और यह बात कुछ आश्चर्यकर नहीं है क्योंकि युवान्च्वांग लिखता है* कि समुद्रमार्ग से जो माल आता था

*युवान्च्वांग, जिल्द १, पृष्ठ १७८।

उनके क्रय-विक्रय की रीति वस्तु-विनिमय थी, और भीतरी व्यापार में सोने-चाँदी के सिक्कों के सिवा कौड़ियाँ और छोटे छोटे मोती अधिक बरते जाते थे। लिपियों के हमारे पास तीन नमूने मौजूद हैं जिनमें से दो तो ताम्रपत्र हैं (अर्थात् भूमिदान के वह प्रमाण जो ताँबे की तख़्तियों पर खुदे हुए मिलते हैं)। इनसे हमें मालगुज़ारी वसूल करने की साधारण देहाती रीतियों के सम्बन्ध में कुछ अभिज्ञता होती है। उस समय की कास्तकारी और खुदाई के नमूने निज़ाम-राज्य के उत्तर में अजन्ता में और ग्वालियर-राज्य के दक्खिन में धार से कोई पचास मील पच्छिम की ओर बाग़ की गुफ़ाओं में देखे जा सकते हैं। इन दोनों कलाओं के चित्रों का संग्रह लंदन की (India Society) इंडिया सोसैटी ने प्रकाशित कराया है और कई चित्र काडरिंगटन की (Cadrington's Ancient India) अँगरेज़ी किताब "प्राचीन भारत" में भी शामिल हैं।

राजा, मंत्री और गृह-प्रबन्ध

बाणभट्ट की प्रशंसा के पात्र स्वयं महाराजा हर्ष हैं और सारे चरित में उनके विरुद्ध इसके सिवा कोई बात नहीं मिलती कि अपने समसामयिक राजाओं और शासकों के साथ उसका बर्त्ताव थोड़ा बहुत प्रभुत्व का होता था*। उनके दृढ़ और बलवान् चरित्र का, विविध सम्प्रदायों से सहनशीलता का, बहिन से अत्यन्त प्रेम, और धर्म्म और साहित्य तथा संगीत और ललित कलाओं से उसके अत्यन्त मनोयोग का समर्थन चीनी यात्री ने भी किया है। हर्ष को वास्तव में एक असाधारण मनुष्य और शासक समझ सकते हैं, परन्तु हर्ष के नाटकों में साधारण राजा का जो चित्र खींचा

* तीन यात्री, पृ० २४।

गया है उससे तो इस काल के शासकों का दुर्बल और विषयी होना ही सिद्ध होता है। ऐसे साधारण राजाओं के राज्य का संगठन अपनी स्थिति के लिये राज-भक्त ब्राह्मण मंत्रियों की सुव्यवस्था का उपकृत होता था, परन्तु यह मंत्री भी कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के राजनीति की दुर्बलताओं से मुक्त नहीं होते थे। सामान्यत: राजा की कई कई रानियाँ होती थीं जो राजा के मरने पर सती हो जाती थीं*। उनके सिवा राजा के अन्त:पुर में अनेक दासियाँ भी होती थीं। अन्त:पुर की रक्षा कुबड़े, बौने और बूढ़े आदमी करते थे†। बड़ी रानी प्राय: अन्त:पुर की युवती और सुन्दरी स्त्रियों से अत्यन्त ईर्षा रखती थी। परन्तु जब उनमें से कोई ऊँचे और श्रेष्ठ वंश की सिद्ध हो जाती तो बड़ी रानी राजा को उसके विवाह कर लेने की स्वीकृति दे देती थी। और उसे अपनी सपत्नी से बराबरी का वर्ताव करना पड़ता था।

देवियाँ और उनके शील-स्वभाव

ऊँची श्रेणी की स्त्रियों में परदे का थोड़ा-बहुत रवाज था। कहीं कहीं रानी के अवगुंठन की भी चर्चा आती है‡ और नाटक से यह भी मालूम होता है कि जब राजा ने अपनी रानी को जादूगर के करतब दिखलाने को बुलाया तो पहले सब लोगों को कमरे से बाहर चले जाने की आज्ञा दे दी§। रानी की एक सहेली की चर्चा भी "पंडिता" की हैसियत में आयी है जो किसी ऊँची श्रेणी की बड़ी

---

* प्रियदर्शिका, पृ० ५७।

† प्रियदर्शिका, पृ० ७५।

इस काल में हीजड़े अवश्य पाये जाते होंगे क्योंकि इनसे पहले मनु और महाभारत में भी इनकी चर्चा आई है।

‡ रत्नावलीनाटिका अंक २, नागानन्द अंक ३।

§ रत्नावली अंक ४।

अवस्था की स्त्री थी और राजवंश का जी बहलाने के लिये छोटे छोटे रूपक या दृश्यों की रचना करके उन्हें दिखाने का प्रबन्ध किया करती थी*। ऊँचे घराने की किशोरियों को संगीत, नृत्य और वाद्यकला सिखाई जाती थी।

ब्राह्मण विदूषक

राजकीय प्रेम और शृंगार के प्रसंग का अवलम्ब प्राय: विदूषक की ही कृपा पर रहा करता था। यद्यपि यह होता था ब्राह्मण तथापि नाटक में उसे घृणा का पात्र बना कर उपस्थित किया जाता था। "यह लालच का दास था" और साधारण अनुचर भी इसकी खिल्ली उड़ाते थे†। एक नाटक में ब्राह्मण विदूषक को एक दास बुरी तरह घसीटता है, उसका पवित्र यज्ञोपवीत तोड़ देता है और अत्यन्त मुँहफट रीति से ब्राह्मण-देवता को "भूरा बन्दर" कहकर सम्बोधन करता है। बाण स्वयं ब्राह्मण था परन्तु उसकी लेखनी से भी एक जगह "चिड़चिड़े और लड़ाके ब्राह्मण" जैसे शब्द विद्यमान हैं‡ दृश्य यह था कि यह ब्राह्मण राजा की सवारी निकलते देखने के लिये पेड़ों पर चढ़े बैठे थे और नीचे खड़े बल्लम बरदार उन्हें अपने डंडों से बे-तरह कोंच रहे थे।

राजप्रासाद

राजा की नित्यक्रिया

राजप्रासाद की भीतें सफ़ेद रेशमी परदे लटका कर सजाई जाती थीं। गच पर चन्दन के अर्क का छिड़काव होता था। उसमें

* प्रियदर्शिका पृष्ठ० ४७

† नागानन्द पृ० ४४

‡ हर्षचरित पृ० २०६।

बहुत उत्तम प्रकार की कस्तूरी मिली होती थी। केवड़े की सुगन्ध अधिक व्यवहृत होती थी। कमरे में एक गुप्त कोठरी सी बनाकर उसमें सफ़ेद पलँग और जड़ाऊ पायदान रखा होता था। यहाँ राजा जी व्यायाम और दोपहर के स्नान के बाद आराम करते थे। उस समय एक किशोरी दासी अपने नव कमलदल सी कोमल हथेली से धीरे धीरे उनके पाँव सुहलाया करती थी। वह दूसरे देशों के राजाओं और मंत्रियों से यहीं भेंट करते थे और उन मित्रों को भी यहीं दर्शनों का सम्मान मिलता था जो अपने पद की दृष्टि से अपेक्षाकृत एकान्त में भेंट करने के अधिकारी थे*। महल के कुछ कमरों की भीतें चित्रकारी से सजी होती थीं। इन कमरों को चित्रशाला कहते थे†। प्रत्येक कृतविद्य शासक प्रायः यंत्र मंत्र तंत्र की कलाओं से पूर्ण अभिज्ञ और विषों के मारकों का पूर्ण ज्ञाता होता था‡। परन्तु शासक और शासित के सम्बन्ध से राष्ट्रीय भावों का जाग्रत होना आवश्यक न था, यहाँ तक कि किसी बाहरी वैरी के आक्रमण के आरंभ में ही ज़मींदार लोग सामना करने के बदले कुछ काल के लिये उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लेते थे। यदि राजा के चित्त की प्रवृत्ति बौद्धमत के सिद्धान्तों की ओर होती, तो वह शस्त्र बाँधकर प्रजा की रक्षा के उस परम कर्त्तव्य को भूल जाता था, जो एक क्षत्रिय की हैसियत से उसका दायित्व था। उस पर इसी विचार का अधिकार रहता था कि राज्य के लिये लाखों मनुष्यों का रक्त बहाना महापाप है§।

---

*कादम्बरी, पृ० १५

†प्रियदर्शिका, पृ० ४४।

‡प्रियदर्शिका, अंक ४।

§नागानन्द, अंक ३।

उज्जयिनी नगरी

अब हम हर्ष की राजधानी उज्जयिनी के उस चित्र को लेते हैं जो बाणभट्ट ने शब्दों में खींचा है। उज्जयिनी एक उज्ज्वल सौख्यसम्पन्न नगरी थी जो केन्द्रस्थ होने के कारण दक्षिणी और पश्चिमी भारत की सम्पति की अधिकारिणी थी। उसके चारों ओर एक खाई थी और रक्षा के लिये एक सुदृढ़ प्राचीर बनी हुई थी जो चूने से पुती श्वेत दीखती थी। बाण के वर्णन से तो प्रकट होता है कि जगह जगह नीले आकाश से बातें करनेवाले ऊँचे कलश भी बने हुए थे। बाज़ार वाणिज्य की सामग्री से भरे हुए होते थे। मोती, मूँगों और रत्नों का क्रय-विक्रय साधारण कारोबार था। नगर की चित्रशालाओं की भीतें मनोहर दृश्यों के चित्रण से सजी होती थीं। इन चित्रों के विषय का अनुमान उन चित्रों से भली भाँति किया जा सकता है जो अजन्ता और बाग की गुफाओं में अब तक विद्यमान हैं। भीतों पर चित्र दो प्रकार के बनाये जाते थे। एक वह जिनमें पानी के रंग तेल के बिना, पलस्तर सूखने से पहले भरे जाते थे, जिसको इटली की भाषा में "फ्रेस्को" कहते हैं। दूसरी वह जो रंगों के साथ तेल की जगह कोई और स्निग्ध वस्तु जैसे अंडे की ज़रदी मिलाकर पलस्तर पर लगाई जाती थी। इस विधि को इटली की भाषा में "टेम्परा" कहते हैं। विषय और दृश्य देवताओं, राक्षसों, नागों और और पौराणिक पात्रों के होते थे, परन्तु नित्य के वर्त्तमान जीवन के चित्र शायद ही कभी देखने में आते थे। हर्ष के काल में अधिकांश शिवजी की उपासना होती थी। जिन्हें इस काल के नाटकों और उपन्यासों में मुख्य स्थान प्राप्त है। चौराहों पर मन्दिर थे जिन पर श्वेत ध्वजायें फहराती थीं। प्रेम के देवता कामदेवजी की भी पूजा होती

थी। उसकी ध्वजा पर मछली का चित्र होता था। वसन्त और शरत् में लोगों के व्यापक मंगलोत्सवों की चर्चा भी नाटकों में आती है। इन त्योहारों में प्रजा पर्य्याप्त रूप से स्वतंत्र थी और ख़ूब हल्ला-गुल्ला होता था जो वर्त्तमान होली के त्योहार से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। घंटों की मनोहर ध्वनि सुनाई दिया करती थी और विशेष सूचनाएँ, जैसे राजा के शुभागमन और प्रस्थान की सूचना शंखध्वनि से दी जाती थी। वेदमंत्रों के उच्चारण के मनोहर सुरीले शब्द बहुधा कानों में पहुँचते थे। अनेकों बाग़-वाटिकाएँ थीं जो निरन्तर चरस या डालों से सिँचती रहती थीं। कुओं पर पक्की जगतें होती थीं और प्राय: तहख़ाने भी होते थे। इन तहख़ानों में जाने के लिए सीढ़ियाँ भी होती थीं जैसे आज-कल बावलियों में जाने के लिये पायी जाती हैं। चारों ओर नगरी से बाहर घने पेड़ों के अँधेरे झुंड थे। शिप्रा नदी जो चर्म्मण्वती की सहायक है, शहर के पास से होकर बहती थी और शहर के आसपास कमलों से ढकी हुई अनेक झीलें बहार दिखाती थीं*।

सर्वसाधारण की दिन-चर्य्या

उज्जयिनी के निवासी, जैसा कि इस समृद्धि नगरी के लोगों को होना चाहिए था, बड़े प्रसन्नचित्त और सुखी थे। उन्हें अपने सार्वजनिक वस्तुओं के नमूनों पर बड़ा गर्व था। यह कुएँ, पुल, मंदिर, बाग़, तड़ाग आदि थे। राजमार्गों पर पशुओं को पिलाने के लिए जलाशय बने हुए थे जो ऊपर से छाये हुए

* कादम्बरी, पृ० २१।

थे। धार्मिक विद्यार्थियों के लिए धर्म्मशाला और सर्वसाधारण के लिए उत्सवालय बने हुए थे। उज्जयिनी वालों के लिए समुद्र के उत्तम से उत्तम रत्न नगरी की ओर खिँचे चले आते थे। बाणभट्ट के अनोखे शब्दों में यह लोग यद्यपि वीर थे तथापि अत्यन्त शीलवान् मधुरभाषी थे तब भी सत्य का अंचल पकड़े रहते थे; सुघर और सुन्दर थे परन्तु पाप के मल से अस्पृश्य थे, अतिथि-सेवी थे परन्तु अतिथियों से भेट पाने की इच्छा न रखते थे, धन और प्रेम के उपासक थे परन्तु न्यायशील। उन्हें ललित कलाओं से अत्यन्त अनुराग था। उनकी बातचीत सूक्तियों और सुकलपनाओं से अलंकृत होती थी। पहिरावा शानदार और निर्दोष पहनते थे। वह विदेशी भाषायें भी जानते थे। कथा-कहानी, पवित्र इतिहास और पुराणों की कथा के रसिक थे, परन्तु इसके साथ ही जुआड़ी भी पक्के थे*। मैना और तोते बड़े शौक़ से पालते थे। हौदे से सजे हुए या बिना अम्बारी के हाथी बहुतायत से पाये जाते थे और घोड़े भी सभी जगह देखने में आते थे। बाण के इस शब्दचित्र का समर्थन उन चित्रों से भी होता है जो गुफाओं में पाये जाते हैं।

गाँव, जंगल, आश्रम और चांडालों का आवास

देश की बस्ती घनी न थी। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सड़क आदि की कोई प्रशंसनीय व्यवस्था विद्यमान थी। बहुत सा भाग जंगलों से पटा पड़ा था जिनमें हाथी बहुतायत से रहते थे। सैकड़ों शेर बबर दहाड़ते फिरा करते थे। जंगलों में संन्यासियों के आश्रम और पश्चात्ताप के लिए तपोवन थे। ऐसे

---

* कादम्बरी, पृ० २११-२१२।

स्थलों पर आखेट करते करते बहुधा राजा महाराज उतरा करते थे। संन्यासियों के आश्रम, ललनाओं के प्रभाव से रिक्त न थे। नाटकों में राजाओं के प्रेम-कथा का केन्द्र बहुधा कोई ऊँचे घराने की युवती होती थी जो किसी संन्यासी महात्मा की धर्म्मपुत्री की हैसियत में अपनी ही अवस्था की बहुत सी सहेलियों में पाली-पोसी गई थी।

बाण ने एक बड़ी विचित्र जंगली बस्ती की चर्चा की है। यह चांडालों के ठहरने की जगह थी जिसे बाणभट्ट ने दुनिया भर के दोषों का मूल लिखा है। चांडालों के लड़के अहेर खेलने, कुत्तों की डोरियाँ खींचने और छोड़ने, बाज़ सधाने, जाल की मरम्मत करने, हथियार सजाने और मछलियाँ पकड़ने में व्यस्त देख पड़ते हैं। इनकी झोंपड़ियाँ बाँस के घने जंगलों में छिपी होती थीं। उनके हातों की सीमाएँ खोपड़ियों के ढेरों की बनी होती थीं। राहों में जो कूड़ा-करकट के ढेर होते थे उनमें हड्डियाँ बड़े परिमाण में पाई जाती थीं। झोंपड़े के आँगन में ख़ून, चरबी और मांस के लोथड़ों की कीचड़ सी होती थी। उनका पहिरावा भद्दे से जंगली रेशम का होता था और बिछौने की जगह यह लोग सूखी खालें काम में लाते थे। उनके घरों में सन्तरी का काम कुत्तों से लिया जाता था और यह लोग गायों पर सवार होते थे। इस वीभत्स शब्द-चित्र का सार बाणभट्ट ने इस संक्षिप्त परन्तु भावपूर्ण वाक्य में व्यक्त किया है कि "यह जगह सब नरक के अनुरूप थी।" शायद यह लोग उन अपराधी जातियों के पुरखे थे जिनके ठहरने की जगहें आजकल भी भारतवर्ष में पाई जाती हैं। इन लोगों पर आजकल के से बन्धन न थे और जान पड़ता है कि वह अधिक सुखी और स्वच्छन्द थे। या शायद वह उन जातियों के प्रतिनिधि हों जिनका बहुत बड़ा अंश धीरे धीरे साधारण जन-समुदाय में घुल-मिल चुका हो।

शिवजी के उपासक

हर्षचरित में एक शैव-तपस्वी के रंग-रूप और पहिरावे का विस्तृत वर्णन मौजूद है जिसका अनुशीलन हमारे लिए उपयोगी होगा। उसके साथ योगियों का एक जमघट था। वह तड़के उठकर स्नान करता, आठों नियत प्रकार से फूलों की भेट चढ़ाता और हवन का प्रबन्ध करता था। धरती पर गऊ के ताज़े गोबर का चौका दिया जाता था। बाघम्बर पर तपस्वी बैठता था जिसके चारों ओर भस्म की एक मेंड़ सी बनी होती थी। तन ढाँकने और शीत से बचने के लिए वह एक काला ऊनी चोला पहनता था। अपने बालों को ऊपर की ओर बटोर कर गाँठ दे लेता था। और उसकी जटाओं से माला की गोल गोल मणिकाएँ लटकती दीखती थीं। अवस्था पचपन वर्ष के लगभग होगी। सिर के कुछ बाल सफ़ेद होगये थे और चँदियाँ कहीं कहीं से गंजी दीखती थी। कान बालों से ढक रहे थे। मस्तक चौड़ा था और उस पर भस्म का तिलक विराज रहा था। कभी कभी वह तेवरी चढ़ा लेता था। उसकी लम्बी लम्बी आँखें पीतिमायुक्त थीं और उनके कोनों में लाल-लाल डोरे दिखाई देते थे। उसकी नाक का सिरा गरुड़ पत्ती की चोंच की तरह मुड़ा हुआ था। दाँत गिरने लग गये थे। परन्तु जो बच रहे थे वह उन्हीं भगवान् शंकर की कलगी की तरह श्वेत थे जो निरन्तर उसके हृत्कमल के सिंहासन पर विराज रहे थे।" उसका होंठ ज़रा नीचे को लटका हुआ था। लम्बे लम्बे कानों में बिल्लौरी मुद्राएँ शोभा दे रही थीं। एक बाँह में लोहे का वलय पहन रखा थां और जड़ी बूटियों से निर्मित एक यंत्र बँधा हुआ था। दहिने हाथ से माला जपता रहता था। उसके वत्त:स्थल पर लटकती हुई लम्बी दाढ़ी मानों एक झाड़ थी जो हृदय को वासनाओं

के मल से साफ़ रखा करती थी। कोपीन पवित्र क्षौम का बना हुआ उज्ज्वल था। उसके पाँव के तलवे कोमल और लाल थे और वह निरन्तर खड़ाऊँ पहने रहता था जो बिलकुल श्वेत और पानी से धुली होती थीं। उसके पास बाँस का एक दंडा था जिसके सिरे पर लोहे का शूल लगा हुआ था। बातचीत बहुत कम और धीरे धीरे करता था और साथ ही मुस्कुराता जाता था। उसके गंभीर विवेकवान् चेहरे पर दया और बुद्धि की झलक देख पड़ती थी उसके उदार रूप से सत्य और पवित्रता, तितिक्षा और धृति और आध्यात्मिक आनन्द टपकता था। बाणभट्ट के शब्दों में "यह है महात्मा भैरवाचार्य्य का चित्र" जो सचमुच शिवजी के अवतार थे।*"

इस तरह के अनेक शब्द-चित्र मौजूद हैं परन्तु हम केवल दो और चित्रों के दिग्दर्शन पर सन्तोष करेंगे। एक तो यह कि राजा के घर बेटा पैदा होने पर किस तरह उत्सव मनाया जाता था और दूसरे विंध्याचल में एक सुदूर ग्राम का जो चित्र बाण ने खींचा है उस पर सरसरी निगाह डालेंगे।

राजकुमार का जन्मोत्सव

जब राजा के यहाँ पुत्र होता था तब यह मंगलमय संवाद समस्त नगर-निवासियों तक पहुँचा दिया जाता था। वे जी खोलकर आनन्द मनाते थे। उस समय निर्जीव पदार्थों में भी आनन्द और मंगल की एक लहर दौड़ती दीखती थी। उसी समय नरसिंहों में से किसी के बजाये बिना ही ऊँचे और सुरीले

---

* हर्षचरित पृष्ठ २६३-२६४।

शब्द अपने आप निकलने लगते थे। ढोल और मृदंग अपने आप ज़ोर ज़ोर से बजने लगते थे मानों बिना कहे सुने स्वयं अपनी इच्छा और प्रवृत्ति से आनन्द मनाने लगते थे। घोड़े अपने अयाल हिला हिलाकर आनन्द के उद्रेक से हिनहिनाते थे। हाथी अपनी सूँड़ ऊपर उठाकर इस सार्वजनिक उत्सव में सम्मिलित होते थे। होली की तरह आग की लपटें आकाश की ओर बढ़ती दिखाई देती थीं। ब्राह्मण-देवता उजले वस्त्र पहने वेद-मंत्रों का उच्चारण करते नन्हें राजपुत्र को आशीर्वाद देने आते थे। कुल के बड़े बूढ़े बड़ी शीघ्रता से राजप्रासाद में जुटने लगते थे। इस कल्याणमय अवसर पर बहुत से बन्दी मुक्त किये जाते थे। और वह अपनी लम्बी लम्बी धूल से भरी दाढ़ियाँ हिलाते उछलते-कूदते समारोह में जाकर मिल जाते थे। आनन्दमंगल के इस उत्साह और धूमधाम में राजप्रासाद का सारा प्रबन्ध बिगड़ जाता था। जनता की भीड़ बल्लमबरदारों की रत्ती भर परवाह न करती थी। लोग रनिवास तक पहुँच जाते थे। इस समय स्वामी और दास समान देख पड़ते थे। बच्चे बूढ़े का कोई भेद न रहता था। विद्वान् और मूर्ख कंधे से कंधा मिलाये दीखते थे। सदाचारी और मदमत्त में कोई भेद न रहता, बड़े घर की देवियाँ और साधारण गली गली मारी फिरनेवाली स्त्रियाँ एक ही ढंग पर अट्टहास करती दीखती थीं। निदान नगर का नगर लोक-परलोक से बेसुध होकर रंगरलियाँ मनाता देख पड़ता था। पड़ोस के राजाओं की रानियाँ सहस्रों की संख्या में अपने पीछे पीछे दासों और दासियों के सिरों पर भाँति भाँति की भेंट लिवाये राजप्रासाद की ओर आती दिखाई देती थीं। सुरालयों से गुलाबी रंग की सुरा के स्रोत बह निकलते थे और लोगों की उच्छृंखल भीड़ बे झिझक बेहूदा छेड़-छाड़ करती और बेरोक-टोक ऊधम मचाती फिरती थी। सब लोग ऐसे बेहोश और

बेसुध हो जाते थे जैसे पागलों का त्योहार मनाया जा रहा हो, क्योंकि यह राजकुमार के जन्म का मंगलमय दिन था*।

विंध्याचल में एक गाँव

विंध्याचल के जंगली गाँव के चारों ओर दूर दूर तक जंगल फैले हुए थे। यहाँ बड़ के देवसार पेड़ दिखाई पड़ते थे जिनके चारों ओर सूखी शाखाओं से गायों के लिए बाड़े बना रखे थे। बहुधा छोटे मोटे बछड़ों पर आक्रमण करके बाघ उन्हें मार डाला करता था। उस हिंस्रजन्तु को फाँसने के लिये झल्लाये हुए किसानों ने फन्दे लगा रखे थे। जंगलों में कहीं कहीं धानों के खेत खलियान और फसलें देख पड़ती थीं। खेती बहुत कम होती थी और अधिकांश खेतों को फावड़े से खोदकर बीज बोया जाता था। खेतों में ऊँचे ऊँचे मचान बना रखे थे, जहाँ से लोग फसिल की रक्षा करते थे और जंगली जानवरों को आते देखकर डरा-धमकाके भगा सकते थे। सड़क पर के पेड़ों से छोटी छोटी मँड़इयाँ बनाई हुई थीं। उनमें लकड़ी की तिपाइयों पर पानी के बरतन रखे हुए थे। यहाँ सूर्य के आतप से बड़ा सुख मिलता था। कहीं कहीं लोहारों ने कोइला तैयार करने के लिये भट्टियाँ बना रखी थीं जिनमें लकड़ी के ढेर जल रहे थे। गाँव के लोग बड़े बड़े कुल्हाड़े कान्धों पर रखे और खाने के बरतन गले से लटकाये ईंधन जमा करने आया करते थे। कभी उनके आगे भारी भारी बैलों की जोड़ियाँ भी होती थीं। अहेरी और व्याधा हाथों में जाल और पींजड़े लिये अपने धंधे की धुन में फिरा करते थे। लोग हर तरह

---

*हर्षचरित, पृ० १११-११२ तक।

की जंगली पैदावार जैसे मधु, मोरछल, मोम आदि एकत्र करके गाँवों में लाते थे। स्त्रियाँ जंगली फलों के टोकरे सिरों पर धरे चली आती थीं। गन्नों के हाते भी थे जिनकी बड़ी सेवा की जाती थी और चारों ओर बाड़ लगा रखी थी। इधर-उधर जहाँ देखो कृष्णमृग चौकड़ियाँ भरते दीखते थे। गाँववालों की झोपड़ियाँ बाँस और काँटेदार झाड़ियों के बीच एक दूसरे से दूर दूर तक फैली हुई थीं। धरती में खूँटे गाड़ कर छोटे बछड़ों को उनसे बाँध रखा था। कुक्कुटों की ध्वनि से बिखरे हुए घरों की स्थिति का पता चलता था। भीतें बाँस के पत्तों, डालियों और घास-फूस से बनी हुई थीं। उनमें कहीं कहीं रंग के छींटे भी दिखाई पड़ जाते थे। लोगों ने छोटे छोटे जानवर जैसे, जंगली बिल्लियाँ सधाये हुए साँप और नेवले बड़े प्रेम से पाल रखे थे। इससे अटकल हो सकता है कि गाँव के जीवन और जंगल के जीवन में कितनी समानता थी*।

जातियाँ और पहिरावे

साहित्यिक चित्रकार की लेखनी से निकले हुए इस अलंकृत वर्णन को छोड़कर हम उन आर्थिक विषयों का अनुशीलन करेंगे जो चीनी-यात्री के यात्रा-वर्णन में से अपेक्षाकृत अधिक सीधे-सादे गद्य में से प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु इससे पहले कुछ ऐसे विषयों की ओर ध्यान देना उपयोगी सिद्ध होगा जो उस काल के उत्कीर्णन और चित्रण से प्रकट होते हैं। अजन्ता की गुफा में† (जिसका

---

* हर्षचरित, टपृ० २२५से २२६तक।

† काडरिंग्न, चित्र २५।

समय छठी से सातवीं ईसवी शताब्दी तक लगा सकते हैं) उत्कीर्णन का अत्यन्त मनोहर काम मौजूद है जो खम्भों के ऊपरी भागों के परलों पर किया हुआ है। यह काम इतनी ऊँचाई पर है कि इसके रूपों पर साधारण यात्रियों की दृष्टि बहुत कम पड़ती है। स्त्रियों का नखशिख और विस्तार लगभग यूनानी ढंग का है। किसी किसी अन्य गुफाओं में बहुधा चेहरे का रूप और समानता और सिर पर का पहिरावा ईरानी भी है। क्या यह काम यूनानी या ईरानी नमूनों पर तैयार किया गया था? महात्मा बुद्ध या बोधिसत्त्व और हाथ में फूल लिये हुए इन्द्र के चित्रों की हलकी और सुन्दर रेखाओं से* जान पड़ता है कि उस समय चित्रकारी की कला सौन्दर्य्य की दृष्टि से किस ऊँचाई पर पहुँच चुकी थी। एक चित्र में काले घूँघरवाले बालोंवाला राजकुमार स्नान करता दिखाया गया है†। वह एक चौकी पर बैठा है और सेवक उस पर बरतनों में से पानी डाल रहे हैं। इस चित्र से बाणभट्ट के शब्द-चित्रों की बड़ी अच्छी व्याख्या होती है। बाग की गुफाओं में मानों स्त्रियों की दो मंडलियों के चित्र हैं ‡ जो चित्र-कला पर हद दरजे के अधिकार को, हाथों और मुखमंडल के अत्यन्त सुन्दर और मनोहर उत्कीर्णन को और सब मिलाकर नखशिख के अत्यन्त साम्य के साथ चित्र उतारने की कला की पराकाष्ठा को प्रमाणित करते हैं। यह बात भी यहाँ कहने योग्य है कि चेहरों की रंगत एक दूसरे से भिन्न है। गोरे चेहरे से लेकर काले भुजंगे तक हर रंग के चेहरों के चित्र विद्यमान हैं। इसी तरह रूप-रेखा और सिर के पहिरावे में भेद है।

* अजन्ता, चित्र ११।

† अजन्ता, चित्र १२।

‡ बाग, गुफा चित्र।

चित्रों में जो कपड़े पहिना रखे हैं उनमें भी कमी-बेशी पाई जाती है। लगभग नग्नचित्र से लेकर पूरे पहिरावे में बने हुए चित्र तक विद्यमान हैं जो इन दोनों मंडलियों के बीच देख पड़ते हैं। जान पड़ता है उस समय तक भारत की आबादी में जाति-सम्मिश्रण ने अभी स्थिर रूप नहीं ग्रहण किया था। साहित्य और कथा-पुराण के रूपों में जो साक्षी मिल सकती है उससे भी हम यही परिणाम निकाल सकते हैं।

भूस्वत्व के प्रकार

जिन आर्थिक विषयों की गौण रूप से चर्चा हो चुकी है उनके सिवा कोई कोई विशेष विषय संक्षेप से वर्णन किये जा सकते हैं। आज़मगढ़ ज़िले के माधव-बन के दान का जो पट्टा ताम्र-पत्र पर खुदा हुआ है* उससे पाँच प्रकार के लगान का पता चलता है, जो देहात में धरती पर कबज़ा रखनेवालों को देने पड़ते थे, अर्थात् (१) तुलामाया, (२) पैदावार का एक नियत अंश, (३) नक़द रक़म, (४) वैयक्तिक सेवायें, और अन्य आय। तुलामाया से क्या अभिप्राय है ? संभवत: यह तौलाई से मिलती-जुलती कोई रीति होगी जो आजकल के पुराने ढंग की देहाती मंडियों में प्रचलित है। हमारे लिये यह कहना कठिन है कि पैदावार का अंश, नक़द रुपया और वैयक्तिक सेवाएँ तीनों के तीनों हर स्वत्वाधिकारी को एक साथ ही देने पड़ते थे, या भिन्न प्रकार की भूमि से प्रकारानुसार तीनों में से कोई एक लगान वसूल किया जाता था। अधिक संभावना यह है कि किसी विशेष भूस्वत्व पर उनमें से कोई न कोई देय होगा परन्तु साथ ही गाँव में या सामूहिक भाव से सारे देहात में

---

* एटिंग हौज़न, पृ० १४६।

सबका ही प्रचार होगा। "अन्य आय" की व्यापक परिभाषा में संभव है उन विविध रक़मों, महसूल या सवाई आदि का समावेश हो जो आज तक देहातों में वसूल की जाती हैं।

राज्य की अन्य आय

युवानच्वांग लिखता है कि भारत पर राज्य-कर का भार चीन की अपेक्षा हलका था और शासन भी कड़ा और अत्याचारी न था। परन्तु फिर भी वह अपने देश को भारत से बदलने पर राज़ी न था। भारत में वंशों का स्याहा रजिस्टरों पर नहीं होता था और प्रजा को लाचार होकर मजूरी या बेगार नहीं देनी पड़ती थी। स्पष्ट है कि उसने भू-सम्बंधी संपूर्ण या आंशिक वैयक्तिक सेवा को बेगार में नहीं गिना। राजा की मिल्कियत चार भागों में बँटी होती थी, एक शासन के साधारण व्यय और राज्य की ओर से जो पूजापाठ होता था उसके लिये, एक ऊँचे सरकारी पदाधिकारियों की जागीरों के लिये, एक ऊँची विद्वत्ता और योग्यता या दक्षता पर पुरस्कार पारितोषिक आदि के लिये, और विविध सम्प्रदायों की भेंट के लिये। राजा की मिल्कियत में खेती करनेवालों से उपज का षष्टांश लगान के रूप में लिया जाता था। भूमि-दान की चाल अधिक थी और राज्य के पदभोगियों को वेतन के बदले प्रायः जागीरें दी जाती थीं*।

उपज, रहन-सहन, रीति-रस्म

चुंगी का महसूल प्रचलित था और चौकी पर से तिजारती माल ले जाती बेर भी थोड़ा सा महसूल देना पड़ता था। खेतों में धान

---

* युवानच्वांग, जिल्द १, पृ० १७६-१७७।

और गेहूँ बहुतायत से उपजते थे। इनके सिवा सरसों, खरबूज़ा और कद्दू की भी खेती होती थी। लोगों का साधारण भोजन दूध, घी, शकर, चपाती और भुना हुआ अनाज था और सरसों का तेल भी काम में आता था। मछली, भेड़ और हिरण का मांस भी स्वादिष्ट खानों के तौर पर काम में आता था। पीने के लिये विविध जातियों के लिये विविध वस्तुएँ नियुक्त थीं जिनमें से वैश्य लोग एक तेज़ और खिँचा हुआ मादक अर्क पीते थे। यहाँ के लोग हाथ से खाना खाते थे। चीनियों की तरह चमचा और बाँस की चिमटी से काम न लेते थे। हाँ, बीमारी की दशा में ताँबे के चमचे काम में आते थे *।

रोग और मृत्यु

रोग की दशा में सात दिन के लिये रोगी का भोजन बन्द कर दिया जाता था। यदि इस उपवास से रोग न छूटता तो फिर चिकित्सा आरंभ करते। शायद उस समम भी आज-कल की तरह जिन्हें ईश्वर ने दे रखा था वह आवश्यकता से अधिक खा लेते थे, और जिन बेचारों का जीवन ही कठिनाई से चलता था वह नित्य की सूखी रोटी को भी तरसते थे। मुरदे की लाश या तो जला देते थे या नदी में बहा दी जाती थी और या उसे योंही जंगली जानवरों का पेट भरने के लिये फेंक देते थे। ब्राह्मण धर्म के अनुयायी अपने मृतकों पर रो-पीट कर शोक करते थे। परन्तु बौद्धों में यह चाल न थी। † भिन्न भिन्न स्थानों पर दोनों धर्मवालों का अनुपात भिन्न था। बहुत जगहों पर यह बराबर बराबर भी होते थे।

---

* युवानच्वांग, जिल्द १, पृ० १७६-१७७।

† युवानच्वांग, जिल्द १, पृ० १४७-१७५।

अपराध, जात-पाँत

अपराधियों को बड़े कड़े दंड दिये जाते थे, परन्तु अपराधों की अधिकता न थी। अपराधी को समाज-मंडली से अलग कर देते थे और जीवन भर के लिए बन्दी कर दिया जाता था। समाज-नीति के विरुद्ध आचरण करने और शासन या पिता से विद्रोह के अपराधी का कोई अंग जैसे नाक, एक कान, एक हाथ या एक पाँव काट डालते थे या उसे देशनिकाला दे दिया जाता था। कुछ अपराधों का दंड प्रतिवादी की सम्मति से जुरमाने तक ही मर्य्यादित रहता था। अभियुक्त के अपराधी या निरपराध होने का निश्चय करने के लिए विविध परीक्षाएँ नियत कर रखी थीं, जैसे यदि अपराधी पानी में फेंक देने पर डूबने से बच जाय तो उसे दोष से मुक्त समझ लिया जाता था। इसी तरह तराजू, आग और विष से भी सहायता ली जाती थी*। प्रसिद्ध चारों वर्णों के अतिरिक्त देश में अनगिनत मिश्रित जातियाँ मौजूद थीं†।

भारतीय नीति और आचार

यह विस्तार सर्वांगपूर्ण नहीं है परन्तु इससे चीनी यात्री के विचारों का पता लगता है और इन विचारों के लिए वह हमारे धन्यवादों का पात्र है। उसने भारतीय नीति की समीक्षा में भी बड़ी उदारता से काम लिया है। इन विषयों के सम्बन्ध में भारतीय साहित्य से जो प्रमाण मिलता है, क्योंकि स्वयं देशवासियों की ओर से है, अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और विस्तृत है।

---

* युवानच्वांग, जिल्द १, पृ० १७१-१७२।

† युवानच्वांग, जिल्द १, पृ० १६८।

तीसरा व्याख्यान

(ईसा की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी)

प्रमाण-पत्र और साक्षी

मध्यकालीन भारत के दूसरे काल-विभाग पर ध्यान देते समय, जो लगभग दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी से शुरू होता है, हम बाणभट्ट ऐसे उपन्यासकार की खींची हुई तसवीरों की सहायता से वंचित रहेंगे। इसके विपरीत हमें भातीय विचारों के सम्बन्ध में मुसलिम दार्शनिक और गणितज्ञ अलबेरूनी के प्रामाणिक वर्णन से काम लेना होगा। अलबेरूनी ने ये बातें लगभग सन् १०३० ई० में लिखी थीं और वह केवल प्रसंग क्रम से कुछ ऐसे विषय और रीतियों का चर्चा कर गया है जिन से भारत के सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इसके सिवा मुसलिम भौगोलिकों और ऐतिहासिकों की रचनाओं में भी भारत का वृत्तान्त मिलता है। परन्तु यह कुछ शृंखलाविहीन-सा है क्योंकि सिंध, पंजाब और समुद्र-तट से आगे मुसलमानों का बहुत कम प्रवेश था। तो भी दूसरे उपायों से प्राप्त अभिज्ञता के स्पष्टीकरण और परिपूर्ण में उनसे बहुत कुछ सहायता मिलती है। रूपक-साहित्य में हमारे पास राजशेखर की कर्पूरमंजरी मौजूद है जिसकी रचना की तिथि लगभग ९०० ईसवी रक्खी जा सकती है। इसके सिवा राजशेखर की

कुछ और रचनाएँ भी हैं, जो यद्यपि इतनी महत्त्व की नहीं हैं तथापि उपयोगी अवश्य हैं। कर्पूरमंजरी रूपक आदि से अन्त तक प्राकृत में है। इसके मूल का अनुशीलन हम स्टेनकोनो (Stenknow) के प्रस्तुत किये हुए प्रशंसनीय संस्करण द्वारा कर सकते हैं। मूल के अतिरिक्त इसमें सी० एच० लेनमेन (C.H. Lanman) की लेखनी से अँगरेज़ी उल्था भी मौजूद है। संभवतः आप जानते होंगे कि इसका एक हिन्दी उल्था भी बनारस से प्रकाशित हुआ था, जो हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् कवि हरिश्चन्द्र ने संवत् १८३९ विक्रमी अर्थात् सन् १८८३ ई० में किया था। जहाँ तक प्रस्तर लिपियों का सम्बन्ध है, इनकी अच्छी संख्या एकत्र कर ली गई है और इनके सम्पादन और व्याख्या के संबन्ध में भी कुछ काम हो चुका है। इनका अनुशीलन करना चाहो तो भारतीय लिपिमाला(Epigraphia Indica) की भारी भारी जिल्दें मौजूद हैं या इंडियन अंटीक्वेरी (Indian Antiquary) या एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बेंगाल, रायल एशियाटिक सोसाइटी लंदन की बम्बई शाखा, और स्वयं रायल एशियाटिक सोसाइटी लंडन या उन दूसरी संस्थाओं के ग्रन्थों और सामयिक पुस्तकों से हो सकता है जिन्हें प्राच्य देशों में दिलचस्पी है। सोमदेव का कथासरित्सागर लगभग १०७० ई० में लिखा गया था। इस कथाओं के संग्रह में प्राचीन काल के सम्बन्ध में भी साधारण कथा पुराण और साहित्य से ली हुई प्रचुर सामग्री विद्यमान है, परन्तु कथाओं की वर्णन-शैली से स्वयं इस काल के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में भी पर्याप्त इशारे मिल जाते हैं। इस समय का उत्कीर्णन कला, चित्रकारी, और वास्तुविज्ञान का अनुशीलन उत्तम से उत्तम ढंग पर एलीफेंटा और एलोरा की गुफाओं या चन्देल राजपूतों के मन्दिरों और इमारतों में हो सकता है जिनके अत्यन्त सुन्दर नमूने अब तक

बुन्देलखंड की रियासत खजराह में मौजूद हैं। पुरी में श्रीजगन्नाथ जी का मन्दिर सन् ११५० ई० के लगभग बना था। इसमें पत्थर के काम के कोई कोई नमूने यद्यपि पीछे के काल से सम्बन्ध रखते हैं, तो भी इनसे कुछ ऐसे आन्दोलनों का अनुमान किया जा सकता है जिनका आरंभ ईसा की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था।

भाषाएँ

प्राकृतें और साधारण बोलचाल की भाषाएँ

पंडित* हरिश्चन्द्र कहते हैं कि कर्पूरमंजरी नाटक शुद्ध प्राकृत में लिखा गया था। स्वयं उनके शब्द भी सुन लीजिए, लिखते हैं "यह नाटक शुद्ध प्राकृत भाषा में राजशेखर कवि का बनाया हुआ है।" परन्तु आज कलके योरपीय इतिहासकारों ने सिद्ध कर दिया है कि राजशेखर के समय संस्कृत और प्राकृत दोनों मृत भाषाएँ थीं। वह अपने नाटकों में शौरसेनी और महाराष्ट्री मिली जुली काम में लाता है। उसके समय में ईसा की दसवीं शताब्दी में भारत की वास्तविक बोलियाँ सिर उठा रही थीं, और वह ऐसी भाषाओं, जैसे मरहठी, के शब्द बहुधा लिख जाता था†। वह स्वयं महाराष्ट्र का ही ब्राह्मण था, परन्तु कन्नौज के दरबार में जाकर वहाँ राजगुरु नियुक्त हो गया था। बोलचाल की नई भाषाएँ इस समय अस्तित्व के क्षेत्र में आने लगी थीं और इस समय तक संभवतः एक दूसरी से इतनी भिन्न न थीं जितनी पीछे हो गई। संस्कृत और प्राकृत में पारंगत हो जाने

*भारतेन्दु। †कर्पूरमंजरी, पृ० २३६।

पर पंडित लोग निःसंकोच सारे भारत की यात्रा कर सकते थे। अनेक देशों में इनकी बातचीत न केवल साहित्यिक भाषाओं के द्वारा पढ़े लिखों की समझ में आ जाती थी, प्रत्युत अपभ्रंशों के द्वारा जनता से भी काम चल जाता था। इन अपभ्रंशों को संस्कृत से संभवतः वही सम्बन्ध होगा जो योरप के मध्यकाल में इटली और फ्रांस की भाषाओं का साहित्यिक धार्मिक वा अदालती भाषा लैटिन से होता था। अपभ्रंशों से स्थानीय प्रभावों और आवश्यकताओं के कारण वर्त्तमान काल की देशी बोलियाँ पैदा हो रही थीं। दक्षिण देश में द्राविड़ी भाषाओं के शब्द भी संस्कृत के साँचे में ढल गये थे और दक्षिणी पंडित अपनी बोलियों का सम्बन्ध संस्कृत से मिलाने पर तैयार थे।

उत्तरी और दक्षिणी भारत के सम्बन्ध

उत्तरी और दक्षिणी भारत में हर्ष के समय में ही पर्य्याप्त सम्बन्ध हो गया था, परन्तु इस काल में इन सम्बन्धों का सूत्र और भी दृढ़ हो गया। हर्षचरित में जिन विद्वान् तपस्वियों की चर्चा आती है उन्हें और विशेषतः यंत्र-मंत्रादि के प्रयोगी तांत्रिकों को दाक्षिणात्य ही बताया गया है। दक्षिण में हर्ष का समकालीन पल्लव राजा महेन्द्रविक्रम वर्म्मन था जो ईसा की सातवीं शताब्दी के आरंभ में कांची (कांजीवरम्) में राज्य करता था। उसने एक हास्य-प्रधान रूपक लिखा था, जिसमें दो उत्तरी प्राकृतें (शौर-सेनी और मागधी) पाई जाती हैं। इस नाटक में दो सम्प्रदायों अर्थात् बौद्ध और शैव धर्म्मों की चर्चा आती है और दोनों हास्योत्पादक ढंग पर लाये गये हैं। इसका कारण संभवतः नाटक का ढंग है क्योंकि इसमें हर चीज़ का, यहाँ तक कि सब तरह के

तापसों और संन्यासियों की भी दिल्लगी उड़ाई गई है। यद्यपि इस नाटक का घटनास्थल कांची है परन्तु परिस्थिति और सभी साधारण बातें उत्तरीय भारत के नाटकों से बहुत ही कम भिन्न हैं। शंकराचार्य के समय (आठवीं सदी के अंत और नवीं सदी के आदि) में भारत के विचारों और धर्म में जो बहुत बड़ा धार्मिक परिवर्तन दिखाई पड़ा उसके नेतृत्व की पगड़ी वास्तव में दक्षिण भारत के ही सिर बँधती है। शंकराचार्य्य ने उत्तरी और दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी सारे भारत का पर्यटन किया। इन यात्राओं से भारत के धार्मिक विचारों में बहुत कुछ समानता उत्पन्न हो गई। इसके सिवा बौद्ध मत के विरुद्ध जो युद्ध चल रहा था उसे बहुत दृढ़ता पहुँची और अनिष्ट साम्प्रदायिक झगड़े दूर करके एक विस्तृत धार्मिक दर्शन के द्वारा लोगों में एकता उत्पन्न करने का प्रयत्न होने लगा। राजशेखर के समय (लगभग सन् ९०० ई०) तक पहुँचने पर मालूम होता है कि उत्तर और दक्षिण के राजनैतिक झगड़े उनको भाषा, साहित्य और समाज-शास्त्र की दृष्टि से एक दूसरे के अधिक निकट लाने के उपकरण बन रहे थे। काव्यमीमांसा के १७ वें अध्याय में वह अपने प्रकृत विषय से हट कर सारे भारत के सम्बन्ध में भौगोलिक विस्तार का वर्णन करने लगता है। उस समय भी 'आर्यावर्त्त' हिमालय और विन्ध्याचल के बीच की भूमि का ही नाम था। उसके पूर्व, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण की चारों सीमाओं का तो विस्तार से वर्णन किया है परन्तु मध्य-भाग का वर्णन विस्तार से नहीं किया क्योंकि प्रत्येक मनुष्य इस विभाग से पूर्ण परिचित समझा जाता था। इस प्रसंग में जब कभी पूर्व दिशा की चर्चा हुई है तो वह बनारस से पूर्व के देशों के अर्थ में हुई है*।

---

* वैद्य, जिल्द ३ पृष्ठ ८, ९

वंशों का सम्मिश्रण और नया सामाजिक संगठन

राजशेखर ब्राह्मण था परन्तु उसकी धर्मपत्नी चौहान-वंश की राजपुत्री थी। ऊँची जातियों में इस तरह परस्पर नातेदारी के और उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं। संभवतः इस समय की चाल यह होगी कि ब्राह्मण पुरुष किसी क्षत्राणी से विवाह कर ले, परंतु इसके विपरीत व्यवहार निषिद्ध होगा। बहुत से क्षत्रिय वैश्य स्त्रियों को कनिष्ठा की तरह पर ब्याह लाते थे*। सम्प्रदाय के विचार से राजशेखर शैव था परंतु जैन मतवालों के लिए उसके हृदय में बड़ा सम्मान था। वह दक्षिण-भारत के शास्त्रार्थ और वहाँ के रीति-रसम, रंग-ढंग की चर्चा बड़े मनोरंजन से करता है। द्राविड़ी स्त्रियों की चर्चा करते समय वह उनके काले चेहरों, पवित्र मुसक्यान और सुपारी की छाल की रगड़ से सफ़ेद बने हुए "दाँतों" का वर्णन करता है। "करनाटक की नवयुवतियों के केश और लटा (नर्मदा के नीचे का उत्तरी विभाग) की अठखेलियों में प्रवृत्त" भी उसके ध्यान को आकृष्ट करती है†। गंधर्व-विवाह जो केवल स्त्री और पुरुष के दैहिक संयोग का नाम है और जिसमें किसी प्रकार की रीति बर्तने की आवश्यकता नहीं है इस समय प्रायः प्रचलित था और कथासरित्सागर से वंशों और जातियों के सम्मिश्रण का विषय परिपुष्ट होता है‡। न केवल तीनों बड़ी जातियों के लोग परस्पर खान-पान कर सकते थे प्रत्युत शूद्रों की कई उप-जातियों से भी उनका इस तरह का सम्बंध हो जाता था§। परन्तु इसमें संदेह

---

* वैद्य, जिल्द २, पृष्ठ २१६।

† कर्पूरमंजरी, पृष्ठ १८०, १८१, २१२।

‡ कथासरित्सागर जिल्द १, पृष्ठ (प्रस्तावना) ४८।

§ वैद्य, जिल्द २, पृष्ठ २४१, २४२।

नहीं कि अछूतों की एक अच्छी संख्या वर्त्तमान थी जो सामाजिक जीवन की परिधि से बिलकुल बाहर समझे जाते थे। वह आन्दोलन जिसके प्रभाव से विदेशी जातियाँ और असली रहनेवाले नये हिन्दू धर्म में मिल-जुल गये, सातवीं ईसवी शताब्दी तक के बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों का समसामयिक था, जिनके बाहरी दशा के सम्बन्ध में साक्षी और प्रमाण कम मिलते हैं। इस आन्दोलन के कारण नये सिरे से सामाजिक संगठन हो गया, जिससे राजपूत जाति पहली श्रेणी में आ गई। इनके सिवा बहुत-सी नई जातियाँ भी बन गईं। पुरानी जातियों की, जैसे ब्राह्मणों की, प्रान्तों की दृष्टि से कई कई स्थानीय उपजातियाँ बन गईं जैसे कनौजिया, गौड़, सरवरिया इत्यादि। इनके पारस्परिक सम्बन्ध टूट गये और कार-बार, परस्पर खान-पान और नातेदारी के सम्बंध में नई नई चाल और रीतियां पैदा हो गईं। संक्षेप में हम उस परिणाम को स्वीकार कर सकते हैं जिस पर इन दशाओं को देखकर सर रिचर्ड टेम्पिल पहुँचे, कि यद्यपि जाति पाँति के विभेद का प्रभाव 'अनार्य्य' लोगों पर भी पड़ गया तो भी उसके उत्तर में अनार्य्य लोगों ने भी आर्य्य विचारों के रंग-ढंग और उसके ऊपरी रंग-रूप में एक भारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया*।

प्रांतों की दृष्टि से चेहरों के वर्ण-भेद

राजशेखर की रचना 'काव्य-मीमांसा' के कुछ विचित्र वाक्यों से व्यक्त होता है† कि ईसा की दसवीं शताब्दी में सर्व-साधारण, वर्ण की दृष्टि से, किस तरह जाति-पाँति का विभेद किया करते थे।

* लहा, पृष्ठ ६४ से ६९ तक।
† वैद्य, जिल्द ३ पृष्ठ ६।

कहता है "लोगों का रंग पूर्व देश में साँवला, दक्षिण में काला, पश्चिम में कुछ गोरा और उत्तर देश में गोरा है। काव्य-मय वर्णन में काले और साँवले रंग में और इसी तरह कुछ गोरी और गोरी रंगत में अधिक अन्तर नहीं होता परन्तु यह बात विशेष रूप से उल्लेख्य है कि पूरब देश में राजपूत और अन्य जातियों की स्त्रियों का रंग गोरा है या गोरे के लगभग भी हो सकता है। और यही दशा दक्खिन देश की है।" इससे दो परिणाम निकलते हैं एक यह कि गोरे वंश वाले भारत में फैल रहे थे और दूसरा यह कि आपस का मेल मिलाप और सम्मिश्रण बड़ी हद तक जारी था। साधारण लोग इस सम्मिश्रण को छिपाने के लिए अपनी जाति के सम्बन्ध में प्राय: ऐसी बातें गढ़ लिया करते थे जिनसे प्रकट दशाओं और घटनाओं की जातियों के और वर्णाश्रम के प्राचीन और प्रामाणिक सिद्धांतों से सु-सङ्गति हो जाय। कथानक-साहित्य में अनेक योद्धा लुटेरे वंशों की चर्चा आती है जैसे भिल्ल, शवर, किरात और पुलिंद वग़ैर:। भिल्ल घटिया दर्जे के और मूर्ख लोग समझे जाते थे परन्तु यह बात भी मानी हुई है कि कभी कभी ये लोग भी सभ्यता और योग्यता का प्रमाण दे सकते थे। ये लोग भीमा दुर्गा देवी को वलि चढ़ाया करते थे परन्तु साथ ही साथ कभी कभी दया और कृतज्ञता के भावों से भी प्रभावित हो जाते थे*। इससे प्रकट होता है कि इस समय तक दुर्गा की पूजा न तो प्रचलित थी और न लोक-प्रिय और उसके भक्त कुछ थोड़े बहुत संकोच का अनुभव करते थे।

यंत्र मंत्र और जादू-टोने में लोकाभिरुचि

लोगों को सदैव यंत्र-मंत्र और जादू-टोनों पर बहुत-कुछ विश्वास रहता है परन्तु जान पड़ता है कि इस अंधकार के युग में इन

---

* कथासरित्सागर जिल्द ७ पृष्ठ (प्रस्तावना) ६।

बातों ने साहित्य के संसार में भी अधिकार जमा लिया था। कर्पूर-मञ्जरी के नाटक में स्थिति और घटनाओं का सूत्र एक तांत्रिक के ही हाथ में है। नायिका के व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा और प्रस्तावना इस घटना से की जाती है कि उसका हाथ लगते ही अशोक के एक वृक्ष में फूल निकल आते हैं। लड़ाइयों में मानव पुरुषार्थ के बदले अभिमंत्रित शस्त्रों से काम लिया जाता है। प्रेम और शृंगार के प्रसंग में व्यक्ति के गुण और पुरुषार्थ के भाव और प्रभाव के बदले गुप्त सुरंगों, अप्राकृतिक, आकस्मिक घटनाओं और व्यापक तांत्रिक के भयदायक नाम और मंत्रों का सहारा ढूँढ़ा जाता है। राजशेखर के बाल-रामायण में राम और सीता की महत्त्व-पूर्ण कथा जिस ढंग से वर्णन की गई है उसके अनुशीलन से बहुत से निष्कर्ष निकल सकते हैं। यह दस अंकों का एक भारी रूपक है जिसका नायक यदि रावण ठहराया जाय तो अनुचित न होगा। रावण सीता से विवाह करने का इच्छुक था। उसकी असफलता से घटनाओं का एक महानद उमड़ पड़ता है जिसका मूल स्रोत अच्छे वा बुरे मानव-उद्देश्य वा साध्य नहीं हैं प्रत्युत मंत्र तंत्र के चमत्कार और स्त्रियों और पुरुषों का बहुरूप होता है। गुड़ियों और खिलौनों के मुँह में बोलते चालते शुक देकर उन्हें सीता और उनकी बहिन के रूप में दिखाया जाता है और इस भोंडी चाल से जनता देखने में धोखा खाकर यही समझने लगती है कि हम सीता और उनकी बहिन को देख रहे हैं*।

आभूषण और अङ्ग-राग

मालूम होता है कि इस काल के जीवन में बनावट का बहुत कुछ प्रवेश था। दरबारी महिलाओं और बड़े घर की स्त्रियों के आभूषण

* कीथ, पृष्ठ २३२ से २३६ तक।

और बनाव-सिंगार की वस्तुओं के सम्बन्ध में जो अभिज्ञता प्राप्त होती है उससे इस बात में तनिक भी संदेह की समाई नहीं रह जाती कि विषय-भोग और बनावट ने सौन्दर्य का गला घोट दिया था। ठंडक के लिए शरीर पर केशर मिले हुए उबटन मल कर पीली रंगत बनाई जाती थी। इसी तरह चेहरों के लिए भी केशर-मिश्रित अंगराग काम में आता था। यह बात स्पष्ट नहीं की गई कि भिन्न भिन्न जातियों के लोग अपनी अपनी जाति के विशिष्ट तिलक किस पदार्थ से लगाया करते थे। देवी कर्पूरमञ्जरी का पहिरावा एक नीले रंग का रेशमी कपड़ा था जो उसने शरीर पर लपेट रक्खा था। उसके पटके में लाल टँके हुए थे। कलाइयों में उसने कंगन पहन रक्खे थे। इस प्रसंग में आज कल की एक बहुत प्रसिद्ध हिन्दी कहावत ईसा की दसवीं शताब्दी में भी विख्यात थी। अर्थात् "हाथ कंगन को आरसी क्या है" जिसका तात्पर्य यह था कि हाथ में कंगन पहनने के लिए आइने की आवश्यकता क्या है। यह आइने संभवतः किसी धातु जैसे इस्पात, चाँदी या काँसे के होते थे। इनका ऊपरी तल बहुत चमकीला होता था और एक छोटी-सी मुठिया भी लगी होती थी। प्राचीन भारत के जो स्मारक तक्षशिला के संग्रहालय में जमा हैं उनमें इस तरह के आइने भी पाये जाते हैं। गले में बड़े बड़े मोतियों का हार पहिना जाता था और कानों में बालियाँ जिनमें जवाहिरात पिरोये होते थे। काले घूँघर वाले केशों को फूलों के गजरों से ढाँक रखते थे जिनसे प्रकृति की नवीनता की झलक पैदा हो जाती थी। बालों और कानों की शोभा के लिए चम्पा की सुनहरी सुगंधित कलियाँ पहनी जाती थीं। बादाम-सी लम्बी आँखें जो नाटक के शब्दों में "एक कान से दूसरे तक पहुँचती थीं" सुन्दरता में गिनी जाती थीं। आँखों में काजल लगाते थे जिसको धो डालने पर आँखें लाल दीखती

थीं। जाड़े में होठों पर मोम मलते थे कि वह फटने न पावें और नज़ले से बचने के लिए केशर व्यवहार करते थे। गर्मियों में ताड़ की बड़ी बड़ी डालियाँ हवा करने के लिए हाथ के पंखों का काम देती थीं और लोगों को फुहारों के नीचे बैठकर नहाने का शौक़ था*। शरीर और कपड़ों के लिए सुगंध और धूप का प्रयोग भी बड़े लोगों में प्रचलित था और केवड़े की धूप जलाने की चर्चा भी रूपक-कार ने विशेष रूप से की है।

झूले का त्योहार

झूले का महत्त्वपूर्ण त्योहार रंग रलियाँ मनाने के लिए अच्छी सामग्री एकत्र कर देता था। "यौवन के मद में चूर, संसार और संसार की चिंताओं से दूर, लड़कियाँ झूले झूलती थीं। झूले के बारी बारी से कभी ऊपर कभी नीचे जाने, गहनों की झनकार और कपड़ों की सरसराहट का चित्र नाटक में बहुत सुंदर खींचा गया है†। इसका भाषांतर करना तो कठिन काम है हम केवल उसके भाव पर ही संतोष करते हैं।

‡"जड़ाऊ पायजेब की मधुर मधुर झनकार कानों में आरही हो,
झूमते हुए हाथ की चमक दमक से आँखें सुखी हो रही हों,
ग़ज़ब ढाने वाले पटके के घूँघरुओं के निरंतर शब्द और कँगनों की हिलती हुई पंक्ति की मोहनी झनझनाहट कानों में

---

* कर्पूरमञ्जरी अंक पहिला और दूसरा।

† कर्पूरमञ्जरी अंक ३, पृष्ठ २६८

‡ कर्पूरमञ्जरी, पृष्ठ २५५

लानमेन के क्रांतिकारी अँगरेज़ी उल्थे में यह झनकार ख़ूब पैदा की गई है।

पहुँचती हो, जब चंद्रवदनी कामिनी इस ढँग से झूला झूल रही हो तो आप ही कहिए किसका मन वश में रह सकता है ?"

इस तरह के बहुत से त्योहार थे जो लोगों के लिए जनता में और अपने अपने घरों में आनन्द-मंगल की सामग्री इकट्ठी करते थे। उनसे नाटक-कारों को भी अपने राजकीय संरक्षकों के मनोरंजन के लिए रूपक रचना करने का अवसर हाथ आता था। परन्तु कैसे खेद की बात है कि मध्यकालीन भारत के रूपक-कारों की जिह्वा पर भी यह कभी न मिटने वाली शिकायत मौजूद है कि "सरस्वती के उपासक सदा दीन और दरिद्र बने रहते हैं।"*

साधारण कथानकों में ब्राह्मणों की चर्चा

एक जाति की दृष्टि से ब्राह्मण लोग अभी तक साहित्यिक और राजनैतिक दोनों प्रकार के पदों पर पूर्ण अधिकार रखते थे। इनसे आशा की जाती थी कि यह ऊँचे दर्जे की मानसिक योग्यता और समस्त नैतिक और धार्मिक गुणों से विभूषित होंगे। परन्तु व्यवहार में उन्हें कुछ अधिक आदर और सम्मान की दृष्टि से न देखा जाता था। सोमदेव ने जो स्वयं ब्राह्मण था उज्जैन के एक कंजूस और लोभी ब्राह्मण की कहानी स्वयं मज़े ले ले कर वर्णन की है। यह ब्राह्मण राजा का पुरोहित था। उसकी स्वार्थपरता और समृद्धि कहावत बन गई थी। दो धूर्तों ने निश्चय किया कि उसका धन उड़ाया जाय और साथ ही उसे लोक मे उपहास और ठठोले का पात्र बना दें। उनमें से एक ने दक्षिणी राजपूत का पहिरावा

---

*कर्पूरमञ्जरी, पृष्ठ २८८।

पहुन कर नगर के बाहर डेरा जमा दिया। उसका साथी तपस्वी बन बैठा और नदी के किनारे तपस्या में लग गया। बनावटी राजपूत नगर में जाता और बातों बातों में अपने साथी की सिद्धियों का खूब गुण गाता। उसने पुरोहित से राह रस्म पैदा करके उसकी ख़ुशामद शुरू की और उसके द्वारा राजदर्बार में एक पद प्राप्त कर लिया। यह दोनों अपने आपको बड़े भक्त और सांसारिक विषयों से मुक्त प्रकट करते थे। बनावटी राजपूत धीरे धीरे पुरोहित का भेदिया बन गया और पुरोहित ने भेंट आदि के लालच से उसे अपने घर ही में रहने की जगह दे दी। राजपूत एक संदूक़ झूठे जवाहरात का ले आया परन्तु उनके मूल्य से इस आधार पर अनभिज्ञता प्रकट की कि मैं सांसारिक कारबार के सम्बन्ध में बिलकुल कोरा हूँ। इधर जवाहिरात को देखकर पुरोहितजी के मुँह में पानी भर आया। कुछ दिन पीछे राजपूत अतिथि बीमार बन बैठा और इच्छा प्रकट की कि किसी साधु प्रकृति और तपस्वी को बुलाया जाय कि मैं यह रत्न उसे विधिवत् दान दे दूँ। निदान उसका साथी जो साधू बना हुआ था बुलाया गया। वह कहने लगा कि मुझे धन दौलत से घृणा है। हाँ! इस बात पर वह राज़ी होगया कि मैं पुरोहित की कन्या से विवाह कर लूँगा और सब जवाहरात पुरोहित को दे दूँगा। अंत में वह रत्नों के बदले थोड़ी सी रक़म स्वीकार करने पर राज़ी होगया और इसके बदले कितना रुपया दिया जाय इसका निश्चय भी पुरोहित पर छोड़ दिया। पुरोहित तो इन रत्नों को कुवेर की रिद्धि समझे बैठा था अतएव उसने एक भारी रक़म दे डाली और मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न था कि मैंने ऐसी भारी रिद्धि नाम-मात्र का बदला देकर प्राप्त कर ली। जब विवाह हो चुका तो बेचारे पुरोहित पर रहस्य खुल गया। राजा अपने पुरोहित की समस्त दुर्बलताओं से पूर्णतया

अभिज्ञ था। इस धूर्त्तता का वृत्तान्त सुनकर हँसी के मारे लोट-पोट होगया* ।

राजपूत

राजपूत-जाति का आरम्भ एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में बहुत कुछ मतभेद पाया जाता है। इस समय मैं वादग्रस्त विषयों पर विचार नहीं करना चाहता। यह बात तो संदेह रहित है कि ईसा की आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दी में शासक जातियों का नये सिरे से संगठन हुआ था †। अब इनके सामाजिक संगठन के अवयव जातियों के बदले वंश बन गये थे। विवाह के नियमों के अनुसार उन्हें अपने वंश से बाहर विवाह करना पड़ता था। कुल की प्रतिष्ठा और मान के नये सिद्धान्त और नई परम्परा अस्तित्व में आ रही थी। अगले कालविभाग के वर्णन में हम इन बातों पर विस्तृत विचार करेंगे।

अछूत जातियाँ और समाज से वहिष्कृत लोग

अछूतों की एक विस्तृत संख्या मौजूद थी जो शूद्रों से भी घटिया दर्जे के गिने जाते थे और चारों प्रामाणिक वर्णों से हर बात में नीचे थे। इनकी चर्चा एलबेरूनी ने भी की है। ये आठ भागों में विभक्त थे। आपस में नातेदारी कर लेते थे, परन्तु धोबी, मोची और जुलाहों से शेष पाँच जातियाँ किसी तरह का सम्बन्ध न रखती थीं। ये पाँचों जातियाँ अग्र-लिखित थीं।

*कथासरित्सागर जिल्द २, पृ० १७६ से १८४ तक।

†स्मिथ का इतिहास, पृष्ठ १७२ से १७४ तक।

(१) बाज़ीगर, (२) टोकरे और ढालें बनानेवाले, (३) धीवर, (४) मछेरे और (५) व्याध। इन आठों जातियों को नगर और गाँव के भीतर रहने की आज्ञा न थी। हाँ! गाँव और शहर के पास झोपड़े बना सकते थे। इसलिए कि ये जातियाँ अपने अपने पेशों के नाम से प्रसिद्ध थीं। हम इन्हें पेशे वाली जातियाँ कह सकते हैं। इन पेशे वालों से भी नीचे दर्जे पर हाड़ी, डोम, चांडाल और विधातू थे। गाँव के गंदे काम इन्हें सौंपे जाते थे और इन्हें अत्यंत घृणित जाति का अछूत समझा जाता था। इनमें से भी हाड़ी दूसरों से कुछ ऊँचे गिने जाते थे। डोम गीत गाते और डफली की तरह का एक बाजा बजाया करते थे। आज-कल की जरायम पेशा जाति डोम सम्भवतः इन्हीं की वंशज है। इनसे घटिया श्रेणी के लोग वे थे जिनका वंशागत काम जल्लादी था और शायद इन्हीं को चांडाल कहते थे। विधातू न केवल मुर्दे खाते थे बल्कि कुत्ते और जंगली जानवरों का भी माँस चट कर जाते थे*।

ब्राह्मणों और मंदिरों के लिए स्थायी वृत्ति

इस समय विभाग की एक उल्लेख्य आर्थिक और सामाजिक विशेषता कुछ ऐसी देवोत्तर सम्पत्ति थी जो विशेष ब्राह्मणों, मन्दिरों और तीर्थों के लिए दे दी जाती थी। मुल्तान में सूर्य-देवता का मन्दिर शहर भर की समृद्धि और सौख्य का कारण था। जब आठवीं शताब्दी के आरंभ में अरबों ने पहले पहल मुल्तान जीत लिया तो मंदिर की मूर्त्ति ज्यों की त्यों रहने दी क्योंकि नगर भर का सौख्य इसी पर अवलम्बित था। थानेश्वर के मंदिर के

---

* एलबेरूनी जिल्द 1, पृ० १०१ व १०२।

लिये भी एक भारी जागीर प्रदत्त थी। काठियावाड़ के दक्षिणी समुद्र-तट पर सोमनाथ के प्रसिद्ध मंदिर की स्मृद्धि का अवलंब सामुद्रिक व्यापार था*। क़ज़मीनी का बयान है की यात्रियों के बहुमूल्य चढ़ावे के अतिरिक्त उस मंदिर के नाम दस हज़ार गाँव की तहसील थी। पूजा-पाठ के प्रबंध और मंदिर की देख-भाल के लिए एक हज़ार ब्राह्मण नियुक्त थे। और द्वार पर पाँच सौ युवतियाँ नृत्य और गान के लिये नियुक्त थीं। इन सबका निर्वाह देवोत्तर सम्पत्ति की आय से होता था।

लिपि-कला और पुस्तकें

मध्य और उत्तर भारत में लिखने के लिये एक तरह का भोज-पत्र बरता जाता था। पहिले इसे तेल मल कर खूब स्वच्छ और समान कर लेते थे और फिर जब कड़ा और चिकना हो जाता था तो उस पर लिखते थे। लिखने के बाद सारे पत्तों को दो तख़्तियों के बीच रख कर ऊपर से कपड़ा लपेट देते थे। दक्षिण भारत में यह काम प्राय: ताड़ के पत्तों से लिया जाता था। हर पत्ते के एक ओर छेद करके सबको तागे में पिरो लेते थे और इस तरह पुस्तक सी बनाकर रख ली जाती थीं†। इन दोनों प्रकारों की बहुत सी लिखी पोथियाँ अब तक सुरक्षित हैं और सारे भारत में पुरानी हस्तलिखित पोथियों के रसिक इनसे पूर्णतया अभिज्ञ हैं। परन्तु एलबेरुनी ने इस महत्त्व की विशेषता को छोड़ नहीं दिया कि साहित्य और विशेषत: धार्मिक साहित्य का बहुत बड़ा

* एलियट जिल्द २, पृ० ९८।
† एल्बेरुनी जिल्द १, पृ० १७१

अंश मुखाग्र ही चला आता था। प्रायः वेदों को लिपिबद्ध करने की आज्ञा नहीं दी जाती थी और एलबेरूनी के आने से कुछ ही काल पहिले एक काश्मीरी पंडित ने पहिले-पहल वेदों को लिपि-बद्ध करके पुस्तक का रूप दे दिया था*।

वेशभूषा, आचार-व्यवहार और रीति-रस्म

एलबेरूनी ने बहुत से ऐसे विभिन्न पहिरावे, आचार-व्यवहार और रीतियों का वर्णन किया है जो उसे विचित्र से लगे। उनमें से एक रीति यह थी कि यहाँ के लोग उस समय अपने सर बल्कि शरीर के किसी भाग के बाल न कटवाते थे और मूँछों को गूँथ कर रखते थे। नख भी बहुत बढ़ा लेते थे। खाना मिलकर नहीं बल्कि चौके में बैठ कर अलग अलग खाते थे। चौका गाय के गोबर से लीप लिया जाता था। पान सुपारी और चूना [और कत्था, यद्यपि अलबेरुनी ने इसकी चर्चा नहीं की] खाने के कारण उनके दाँत लाल लाल दीखते थे। जब कोई बच्चा पैदा होता तो लोगों का ध्यान माँ के बदले अधिकतर बाप की ओर जाता था। उनकी शतरंज आज कल की पचीसी से कुछ मिलती-जुलती थी क्योंकि एक समय में चार आदमी खेलते थे और पाँसों की जोड़ी भी इस्तेमाल की जाती थी। एलबेरूनी ने शतरंज की बिसात का नक़शा और खेल के नियम भी लिखे हैं। परन्तु इससे मालूम होता है कि इस खेल के नियम आज-कल की पचीसी से भिन्न थे। रीतियों के प्रभाव क्षेत्र का अटकल करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि अलबेरूनी के अनुभवों का क्षेत्र पंजाब और सिंधु तक ही

---

*एलबेरूनी जिल्द १, पृ० १२५ व १२६।

सीमित था। शायद इन स्थानों का पहिरावा पूर्वी और दक्षिणी भारत से सर्वथा भिन्न था, और अधिकांश उन ठंडे देशों के पहिरावे की तरह था; जो उत्तर-पश्चिमी पहाड़ों के उस पार स्थित हैं* ।

दो ताम्र-लिपियाँ

इस काल-विभाग की अनेक लिपियों से उस समय के सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं के कुछ पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। मैं आपका दक्षिण-भारत की दो लिपियों की ओर ध्यान दिलाता हूँ। इनमें से एक तो तंजोर के चोल-वंश के समय की है। यह ताम्र-पत्रों पर है जो अनबील ग्राम में मिले हैं। दूसरी कनाड़ी भाषा की ताम्रलिपि है जो बम्बई-प्रान्त में धारवाड़ के ज़िले से निकली है ।

ब्राह्मणों को भूमि-दान

सुन्दर चोल के समय की अनबील के ताम्र-पत्र ईसा की दसवीं शताब्दी के अंत के बने हुए थे, और तंजोर के आस-पास मिले थे। कुल ग्यारह ताम्र-पत्र थे। यह सबके सब एक छल्ले में लिपटे हुए थे, और छल्ले के ऊपर एक प्रशंसनीय बनावट की मुद्रा अंकित थी। इस मुद्रा में नीचे लिखी वस्तुओं का चित्र खुदा था।

> "एक शेर, दो मछलियाँ, एक धनुष, दो दीप-स्तम्भ, दो छड़ियाँ और छत्र।"

---

*एलबेरूनी जिल्द १, पृ० १७६ से १८५ तक।

हाशिये के चारों ओर संस्कृत में एक श्लोक खुदा था। इन चित्रों का उत्कीर्णन कुछ हलका सा था। लिपि का प्रथम भाग संस्कृत में था और उसमें उस पट्ट के शब्द उत्कीर्ण थे जिसके प्रमाण से चोलराज ने अपने विद्वान् और योग्य ब्राह्मण मंत्री को जागीर का दान किया था। दूसरे भाग की भाषा द्रविड़ थी और उसमें गाँव के रहनेवालों और पदाधिकारियों की ओर से स्वीकृति और प्रतिज्ञा लिखी थी। इस भूमि का क्षेत्रफल ४५ एकड़ के लगभग होगा और इतनी भूमि मंत्री जैसे ऊँचे पद के ब्राह्मण के लिये पर्याप्त समझी जाती थी। राजा केवल एक विशेष क्षेत्रफल इस दान के लिये नियुक्त कर देता था। उसके बाद सीमाबंधन और इस बात का निश्चय गाँववाले किया करते थे कि अमुक भूमि के क्षेत्रफल की आय अब से राजा के बदले जागीरदार को मिला करेगी। सीमाबंधन की रीति भी विचित्र थी। एक हथिनी को किसी नियत स्थान पर ले जाकर छोड़ देते थे और वह एक वृत्त-सा बनाकर लौट आती थी। इस साध्य के लिये कोई प्रबंध कर लिया जाता था कि हथिनी उसी स्थान पर लौट आवे जहाँ से भेजी गई थी। पीछे से सीमाओं पर मिट्टी के ढेर और नागफनी की हरी भरी झाड़ियों से चिह्न बना देते थे* ।

चोलवंश के राज्य में जंगलात

जागीरदार के सम्बंध में लिखा है कि उसकी माता ने संसार के स्थिर रहने तक नित्य एक ब्राह्मण को चाँदी के बर्तन में उत्तम प्रकार का भोजन धर्मार्थ देने का प्रबंध कर रखा था और हरि-मंदिर

---

* भारतीय लिपिमाला, जिल्द १९, पृ० ४४ से ७० तक।

श्रीरंगम में एक भारी दीपक चढ़ाया था। चोल-शासनाधीन देश के दृश्य का कुछ अटकल इस संकेत से हो सकता है जो "समुद्रतट के घने जंगलों" की ओर किया गया है, जिनमें 'ताड़, साल, आबनूस, सुपारी और केले के अगणित पेड़, पौधे और पान के झुंड के झुंड खड़े थे * ।

भूस्वत्वाधिकार और किसानों से प्राप्य कर

जागीर के पट्टे का सार विषय विस्तृत शब्दों में स्पष्ट कर रखा है और उससे देहात की आर्थिक दशा का अटकल करने में सहायता मिलती है। हम उसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) धरती और जो कुछ उस पर विद्यमान हो (२) पानी और उसके सम्बंध की सब वस्तुएँ (३) वह कर और महसूल जो जागीरदारों के लिये आज्ञानुसार देय था और (४) विशेष सुभीते जो जागीरदारों को प्राप्त थे। भूमि के सिवाय जागीरदार को अपने जागीर की नीचे लिखी वस्तुओं को वर्तने का अधिकार था।

> 'फलदार पेड़, दूसरे पेड़, बाग़, चट्टानों की दराड़ जिनमें मधु-मक्खियों के छाते होते थे, कुएँ, चौपाल, वंजर भूमि जिसमें बछड़ों के लिए गोचर भूमि होती थी, गाँव की वस्ती, वल्मीक, पेड़ों के चारों ओर बने हुए चबूतरे, मकान, मंदिर, वंजर, दलदल भूमि। पानी के सम्बन्ध की, नदियों, तालावों, नदी से निकली धरती, जूहड़ों, और मछलियों वाली झीलों पर भी उसे अधिकार प्राप्त थे। कर आदि जो उसे मिलता था उसमें आगे लिखी वस्तुएँ भी समाविष्ट थीं।

---

* भारतीय लिपिमाला, जिल्द १४, पृ० ६६ ।

'ज़ुर्माना या ज़ब्ती जायदाद जो स्थानीय न्यायालय की आज्ञा से व्यवहार में आवे, पान के पत्ते, हर एक करघे से बिने हुए कपड़ों पर कर, किसानों के परिवार में कोई विवाह हो तो भेंट, मंदिरों का इजारा और पुराने किसानों की बेदख़ली पर जो दंड प्राप्त हो। इनके सिवा वह वस्तुएँ जो राजा के बर्तने योग्य समझी जाती थीं अब राजा के बदले जागीरदार को मिलती थीं। ब्राह्मण मंत्री को जो सुभीते प्राप्त थे उनमें नीचे लिखे अधिकार भी समाविष्ट थे। 'बड़े बड़े दालान और उत्सवालय और दो मंज़िले मकान पक्की ईंटों और खपरैलों से बना सकता था, बड़े और छोटे कुएँ खुदवा सकता था, भूमि की सिँचाई के लिये नालियाँ बना सकता था और कोई कोई सुगंधित जड़ी-बूटियाँ और पौधे लगाने की उसे अनुमति थी* ।'

इससे मालूम होता है कि गाँवों में साधारण घर कच्चे होते थे और पक्का मकान बनाने के लिये राजा से विशेष रूप से आज्ञा लेनी पड़ती थी। इसके सिवा यह भी प्रतीत होता है कि कुछ विशेष प्रकार की फ़सलें बोने के लिए विशेष राजाज्ञा की आवश्यकता पड़ती थी।

मंदिरों की सेवा

अब हम कन्नड़ लिपि की चर्चा करते हैं। यह धारवाड़ ज़िले के एक गाँव कुलेनुर से निकली थी। इस पर ९५० शाका (तदनुसार सन् १०२८ ई०) लिखा है। यह लिपि एक पत्थर पर है जिसका ऊपरी भाग खुदाई के काम से सुशोभित है। बीच में

* भारतीय लिपिमाला, जिल्द १९, पृ० ७१ व ७२।

एक मंदिर है। मंदिर में एक लिंग स्थापित कर रखा है। और ऊपर एक कलश वाला गुम्वद बना हुआ है। गुम्वद के दोनों ओर एक एक चौरी है। ठीक मंदिर के दहिने ओर एक भक्त उकड़ूँ बैठा है। जिसका मुँह मंदिर की ओर नहीं बल्कि सामने की ओर है। इससे कुछ ऊपर एक घेरे में दो मछलियाँ हैं और उनसे कुछ ऊपर चंद्रमा बना हुआ है। ख़ास मंदिर के बाँई तरफ़ एक गाय खड़ी है और बछड़ा उसका दूध पी रहा है। गाय से ज़रा ऊपर एक हल है और उससे ऊपर सूरज। खुदाई का यह तनिक तनिक सा विस्तार बहुत उपयोगी है; क्योंकि इससे देहात के जीवन के ढंग पर प्रकाश पड़ता है। असल पट्टा एक मंदिर के लिए माफ़ीनामा है और यह जागीर धान के कुछ खेतों और बारह मकानों पर समाविष्ट है। इसकी आय का कुछ भाग मंदिर के देवता के ख़र्च के लिये है। कुछ भाग उन मठों के लिये है जिनमें धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। एक भाग (संभवतः मंदिर के) नृसिंहा बजानेवालों के लिये और कुछ भाग जिसमें मकान भी शामिल हैं धौंसा बजानेवालों के लिए है। यह भी मंदिर की सेवा करते थे। यह बात उल्लेख्य है कि तपस्वियों को शौचाचार और ब्रह्मचर्य्य के व्रत पर स्थिर रहने के लिए कड़ी ताकीद कर रखी है*।

मुसलमानों का हिन्दुओं से सम्बन्ध

इस विषय पर विचार समाप्त करने से पहले यह बता देना उचित जान पड़ता है कि गङ्गा की घाटी में विजयी की तरह प्रवेश करने से बहुत काल पहले मुसलमान लोग अत्यंत थोड़ी संख्या में

* भारतीय लिपिमाला, जिल्द १५, पृ० ३२९ से ३३४ तक।

दक्षिणी भारत के समुद्रतट पर फैले हुए थे। दक्षिण भारत के विस्तृत राष्ट्रकूट राज्य से अरब के लोग पूर्णतया अभिज्ञ थे। उन्होंने वहाँ के राजा का नाम बल्लहरा (बल्लभराज) लिखा है। मसौदी, जो सन् ९५६ ई० के लगभग मरा, लिखता है :—

"सिन्ध और भारत के राजाओं में से कोई भी मुसलमानों की इज़्ज़त बल्लहरा से अधिक नहीं करता था उसके राज्य में इस्लाम की इज़्ज़त और रक्षा की जाती है*।" प्रकट है कि दक्षिण भारत में तो हिन्दू मुसलमानों का सम्बंध, वाणिज्य-व्यापार और जहाज़ चलाने के कारण सुखदायक था। परन्तु उत्तर भारत में युद्ध और विरोध के सम्बंध से बिलकुल उल्टी दशा थी।

---

* एलीयट, जिल्द १, पृ० ४२।

चौथा व्याख्यान

ईसा की १४ वीं शताब्दी

सामाजिक विशेषताएँ

मध्यकालीन भारत का तीसरा काल-विभाग ईसा की १४ वीं शताब्दी से आरंभ होता है। इस समय तक मुसलमानों का अधिकार भारत के पूरे विस्तार में जम चुका था। दिल्ली के बाशाहों का राज्य दृढ़ हो चुका था और उसका प्रभाव और अधिकार दूर दूर तक फैल गया था। परन्तु इस समय चिट्ठी-पत्री और आने जाने के साधन ऐसे न थे कि कोई केंद्रीय शासन इतने अधिक दूर दूर के प्रांतों पर, जो हर तरफ़ हज़ार हज़ार मील से भी अधिक फैले हुए थे, यथेष्ट रीति से अपना सिक्का बैठा सके। इसके सिवा मुसलमान जो धार्मिक भावावेश में पड़ कर भारत में आ गये थे वह भी अपने सामाजिक जीवन में इतनी समानता पैदा न कर सके थे कि सब मिल कर किसी केंद्रीय शासन से अधीनता का सम्बन्ध जोड़ लेते। भिन्न भिन्न जातियों के मुसलमान जैसे तुर्क, पठान, ईरानी, अरब, मुग़ल और विविध वंशों के इसलाम-मत स्वीकार करनेवाले भारतीय अभी किसी संयुक्त शासन और समाज-नीति पर एकमत नहीं हुए थे जिससे वह एकता के साथ किसी विस्तृत और दृढ़ केंद्रीय शासन के रक्षक बन सकते। और फिर हिन्दुओं से भी उनके सम्बंध अभी तक कुछ आंतरिक प्रेम के न थे। जहाँ तक शासन और विजय का सम्बन्ध है मुसलमानों के भारत

को विजय करने से पहले राजपूत हिन्दुओं की शेष सभी जातियों पर, बड़प्पन प्राप्त कर चुके थे। मुसलमानों के आने के बाद भी राजपूतों के चरित्र और वीरता की नीति का विकास जारी रहा और कहा जा सकता है कि इस समय हिन्दू आबादी की वीर श्रेणी यही थी। हिन्दुस्तान के हिन्दू विद्वान् और पंडित अब पीछे की श्रेणियों में आ गये थे परन्तु शासक-बल का प्रभाव उन पर भी पड़ रहा था। मुसलमान दरवेश और सूफ़ी देश भर में फैले हुए थे और उनका प्रभाव सम्बन्ध के कारण हिन्दुओं के विचार पर और देश के राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर पड़ रहा था। सम्बन्ध के प्रभाव के कुछ चिह्न भक्ति के सिद्धान्तों में देख पड़ते हैं जो आधुनिक वैष्णव-मत और शैव-मत में प्रवेश कर गया था और फिर उन विरोधी आन्दोलनों में भी दिखाई देते थे जो इन दोनों मतों के विरुद्ध खड़े किये गये। और जिनके कारण जाति-पाँति का विभेद और उसके असामाजिक अंग और भी दृढ़ और स्पष्ट हो गये और जातियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। अब शेष रही सीधे प्रभाव पड़ने की बात। वह विविध भारतीय वंशों के समूह के मुसलमान-मत में प्रविष्ट होने से प्रगट है और इस बात से भी कि इस काल में विविध पंथ और मत-मतान्तर चल पड़े और सौ दो सौ बरस पीछे तक अपना प्रभाव फैलाते रहे। कबीर और गुरु नानक उन धार्मिक और सामाजिक मेल कराने वालों की लम्बी सूची में से दो सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण हैं जिन्होंने अभिनव भारत के लिये मार्ग बनाया।

प्रमाण

यह युग अभिनव संगठन का युग था जिसका उत्साह भारतीय जीवन के विविध विभागों को कर्म-शील बना रहा था। इस लिए

इस युग के सम्बंध में प्रमाण और साक्षी बड़ी संख्या में मौजूद हैं। और इस अधिकता के कारण चुनाव का काम अत्यंत कठिन हो जाता है। इस काल के आलोचनात्मक परिशीलन में जितना विवेक और विचार लगाने और ध्यान देने की आवश्यकता है अब तक उतना नहीं दिया गया। यद्यपि यह बात थोड़ी बहुत समझ से बाहर और विरोधाभास सी प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुतः परिशीलन में इस कमी का कारण यही सामग्री का प्राचुर्य है जो सहज ही प्राप्य है। इस समय के साहित्य और साधारण कथा-कहानियों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया और न इस बात की पर्याप्त छान-बीन की गई कि धार्मिक आन्दोलनों का देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। ऐसी खोज बहुत से विषयों पर प्रकाश डालने का साधन बन सकती है जो अब तक अंधकार में छिपे हुए हैं। इस व्याख्यान में हम केवल थोड़े से प्रमाणों पर दृष्टि डाल सकते हैं, जिनसे मध्यकालीन भारत के अंतिम भाग का ठीक ठीक चित्र आँखों के सामने आ जाय। इस काल के भाट कवियों का अनुशीलन चंदबरदाई के पृथ्वीराजरासो में और कहानियों के उस लम्बी शृंखला में किया जा सकता है जो संयुक्त-प्रांत में गली गली घूमने वाले गवैये वर्षा काल में गाँव गाँव गाते फिरा करते हैं और जो आल्हाखंड के नाम से प्रसिद्ध है। भाटों की कविता और चारणों की वंशावली पर टाड साहब की रचना "राजस्थान" से भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। टाड राजस्थान का एक अमूल्य संस्करण हाल ही में मिस्टर डब्ल्यु क्रुक ने प्रकाशित किया है। मिस्टर डब्ल्यु क्रुक W. Crooke के नाम से आप में से कई सज्जन अभिज्ञ होंगे। वह इन्हीं प्रांतों में सिविल सर्विस की विगत पीढ़ी के एक प्रतिष्ठित सदस्य थे। जिस धार्मिक आन्दोलन के कारण अभिनव शैव-मत सूफ़ीयों की परम्परा के सन्निकट आ गया उसका सबसे अच्छा उदाहरण

कश्मीर की देवी लल्ला (लाल डीड) की रचना में मौजूद है। लल्ला ईसा की १४ वीं शताब्दी में हो गई है जब कि उसकी जन्म-भूमि में इस्लाम का आकर्षण व्यापक हो रहा था। उसकी रचना के इस विद्वत्ता-पूर्ण संस्करण (लल्ला वाक्यानि) के अतिरिक्त जो सर जार्ज ग्रियर्सन ने निकाला है, एक पद्यबद्ध अँग्रेज़ी उल्था भी मौजूद है जो सर रिचर्ड टेम्पिल ने प्रकाशित किया है। उन्होंने इस पर एक अत्यंत अमूल्य प्रस्तावना भी लिखी है जिससे हिन्दुस्तान की १४ वीं शताब्दी ईसवी की धार्मिक परिस्थिति एक नये प्रकाश में दीखने लगती है। यात्रियों में से इब्न बतूता उल्लेख्य है। पेरिस की सोसाइटी एशियाटिक ने उसकी यात्रा का एक प्रशंसनीय संस्करण फ्रांसीसी उल्थे के सहित सी डिफ्रेम्री और डाकृर बी० सी० सांग्वीनेट्टी (C. Deframery and Dr. B. C. Sanguinetti) के सम्पादकत्व में चार जिल्दों में प्रकाशित किया है। पूर्वीय यात्रियों में इस सर्वश्रेष्ठ यात्री ने पश्चिमीयों में सर्वश्रेष्ठ मारको पोलो से एक तिहाई शताब्दी बाद भारत-यात्रा की थी। जिसकी यात्रा का अनुशीलन कर्नल यूल के अनमोल संस्करण में किया जाता है। मिस्री यात्री शहाबुद्दीन अबुलअब्बास अहमद ने भी दिल्ली का तुग़लक़ दर्बार लगभग उसी काल में देखा था। उसकी लेखनी से नगर, नागरिक, दर्बार और उस समय के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में एक ऊँची श्रेणी का वर्णन मौजूद है। इसके बाद भारत के मुस्लिम इतिहासकारों जैसे फ़रिश्ता, बर्नी और अफ़ीफ़ आदि की रचनायें और सुल्तान फ़ीरोज़शाह तुग़लक़ की संक्षिप्त सी स्व-लिखित जीवनी "तारीख़ फिरोज़शाही" आती हैं। अमीर ख़ुसरो देहलवी की रचनाओं में भी जीवन के विविध अंगों के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं जो विशेष रूप से इतिहासकारों की रचनाओं में नहीं मिलते। अमीर ख़ुसरो की रचनाओं का अनुशीलन करना चाहो तो वह ऊँचे दर्जे

के संस्करण मौजूद हैं जो अलीगढ़ से आला हज़रत निज़ामे दकन की संरक्षता में प्रकाशित हुए हैं। मैं आपको दो कहानियों अर्थात् 'देवलरानी खिज़रखाँ' और 'किरानुस्सादैन' पर विशेष रूप से ध्यान दिलाता हूँ। मुद्राओं और लिपियों की भी एक भारी संख्या मौजूद है। इस विषय के अनुशीलन में हमें मुस्लिम भारत-लिपिमाला Epigraphia Indo-Moslemica) और मिस्टर ए० टामस की रचनाओं से बहुत सहायता मिलेगी।

राजपूतों का शिष्टाचार और शील

कन्नौज की राज-कुमारी

चंदबरदाई की कविता और आल्हाखंड यद्यपि दोनों के दोनों १२ वीं शताब्दी की घटनाओं के सम्बन्ध में हैं तथापि जिस दशा में अब मिलते हैं उसमें बहुत सामग्री भी सन्निविष्ट है जो पीछे से तैयार हुई। आल्हाखंड जिस दशा में मौखिक परम्परा से चला आया है, सम्भवतः सामूहिक रूप से ईसा की १३ वीं और १४ वीं शताब्दी के राजपूतों के रूप-रंग, चरित्र और जीवन-क्रम का दर्पण है। पृथ्वी-राज के अपने दुलहिन को प्राप्त करने की कहानी से राजपूतों के सामाजिक जीवन पर विशेषता से प्रकाश पड़ता है। इसलिए मैं आपकी आज्ञा से यह कहानी संक्षेप से वर्णन करूँगा जिसमें आपके हृदय में उस भावपूर्ण चारण-काव्य के अनुशीलन की इच्छा उत्पन्न हो। जिससे राजपूत दरबारों के रीति-रस्म का पूरा चित्र आँखों में फिर जाता है। नई खोज से पता चलता है कि कन्नौज का राजा जयचंद राठौर था। लेकिन राठौरों और गहरवारों का चोली-दामन का साथ था और किसी वंशानुगत या इतिहासगत कारण से

चारण-काव्य में कन्नौज के शासक को हमेशा राठौर ही कहा गया है। जयचंद की एक सुन्दर राजकुमारी संयोगिता थी जो विवाह की अवस्था को पहुँच चुकी थी। राजा ने स्वयंवर रचाने का निश्चय किया जिसमें संयोगिता स्वयं अपना वर चुन ले। स्वयंवर की रीति इस काल में व्यापक न थी परन्तु जो राजा स्वयंवर रचाता उसके बारे में ऐसा समझा जाता था कि अपनी बेटी के ब्याह के सम्बन्ध में इस प्रकार की रीति पालन करके यह राजपूतों में बड़प्पन और ऊँची श्रेणी ग्रहण करना चाहता है। स्वयंवर में दूर और समीप के समस्त राजपूत राजाओं और राजकुमारों को निमंत्रित किया गया। दिल्ली के सुप्रसिद्ध चौहान राजा पृथ्वीराज को भी निमंत्रण दिया गया था परन्तु पृथ्वीराज का विचार था कि राजा जयचंद ने स्वयंवर का दरबार नियुक्त करने में अनुचित साहस का काम किया है। निदान वह विवाह के इच्छुक की हैसियत से दरबार में सम्मिलित न हुआ। प्रत्युत प्रतिज्ञा कर ली कि जयचंद की राजकुमारी को बाहुबल से अपनी रानी बनाऊँगा।

प्रेम का अनोखा मार्ग

दरबार खुल गया। राजे और राजकुमार आये और अपने अपने सिंहासन पर बैठ गये परन्तु चौहान का सिंहासन ख़ाली रहा। यह देख कर जयचंद ने इस अपमान का बदला लेने की ठानी और पृथ्वीराज की मूर्ति द्वारपाल के रूप में बनवा कर दरवाज़े पर खड़ी कर दी जिससे यह प्रकट करना इष्ट था कि पृथ्वीराज ऐसी ही छोटी सेवा के योग्य है। परन्तु उसने अपनी राजकुमारी के आंतरिक भावों का अनुमान न किया। वह जयमाला हाथ में लिये स्वयंवर में आई जो उसे अपने चुने हुए वर के गले में डालनी थी।

दरवार में जितने राजा और राजकुमार जमा थे वह सबके पास से निकल गई और 'द्वार पर जाकर द्वारपाल की मूर्ति के गले में जयमाला डाल दी। इस पर जितने लोग वहाँ उपस्थित थे आश्चर्य में डूब गये और सभा में शोक और क्रोध की एक लहर दौड़ गई। जयचंद का क्रोध भड़क उठा। उसने राजकुमारी को कारागार में भिजवा दिया और राजा लोग अपने अपने घर चले गये।

भेष बदले हुए प्रेम का दूत

इसी बीच पृथ्वीराज के दरवार से एक स्त्री रवाना की गई कि कन्नौज की राजकुमारी को निकाल लाने के लिए मार्ग तैयार करे। वह मर्दाना लिवास पहन कर कन्नौज आई। परन्तु 'नाक में सोने का फूल पड़ा रह गया जो केवल स्त्रियाँ ही पहनती हैं।' और उसके भेष का रहस्य खुल गया। परन्तु इस रहस्योद्घाटन से भी वह घबराई नहीं। कहने लगी मैं दिल्ली के महाराज की दासी हूँ और उनके यहाँ से भाग आई हूँ। अब आपसे सहायता की प्रार्थना करती हूँ और मुझे पूरी आशा है कि कन्नौज के महाराज एक विपद की मारी मानिनी दासी को निराश न करेंगे। जयचंद ने सोचा कि दासी के हृदय में इस समय पृथ्वीराज के विरुद्ध प्रतिहिंसा का भाव बहुत प्रबल होगा। इसलिए उसने उसे कारागार में राजकुमारी की रक्षा और 'उसके हृदय से पृथ्वीराज के प्रेम का रोग मिटाने के लिए' नियुक्त कर दिया।

पृथ्वीराज का स्वयं अवसर पर पहुँचना

दिल्ली में पृथ्वीराज ने अपने कवि चंदबरदाई से सलाह की तो उसने कहा कि तुरन्त कन्नौज की ओर चल देना चाहिए।

चंदवरदाई को तो सभी राजपूत दरबारों में पहचानते थे परन्तु पृथ्वी-राज ने उसके सेवक का भेष बना लिया और विश्वसनीय मनुष्यों को साथ लेकर कन्नौज को चल पड़ा। कन्नौज के दरबार में पहुँच कर पृथ्वीराज भूल से अपने कंगन-वाले हाथ से मूँछों को ताव देने का था, [यह योद्धा राजपूतों की विशेष क्रिया थी जिससे वह किसी को सामना करने के लिये ललकारा करते थे।] परंतु कवि चंदबरदाई ने ठीक समय पर संकेत से मना कर दिया और इस तरह उसके भेष का रहस्य खुलते खुलते बाल-बाल बच गया।

कन्नौज के महाराज ने चंदबरदाई की उचित आवभगत की जिसका वह दूत के नाते अधिकारी था। और फिर उससे पूछा कि दिल्ली का राजा किस तरह का मनुष्य है। कवि ने इन अभिप्राय-युक्त शब्दों में उत्तर दिया जो वस्तुत: ठीक भी था। 'जिस डील-डौल का यह मेरा सेवक है उसी डील-डौल का दिल्ली का राजा भी है। वह एक वीर चौहान है। भाग्य के फेर-फार की उसे तनिक भी पर्वाह नहीं है और मृत्यु को सामने देखकर हँस देता है'। चयचंद ने उचित प्रतिष्ठा के साथ उन्हें उनके डेरे पर पहुँचा दिया जो एक बाग़ में था।

पत्र-व्यवहार और संदेश

बाग़ में मछलियों का एक तालाब था। कवि ने लिखा है कि दिल्ली का महाराज इतना उदार था कि उसने मछलियों के पेट भरने के लिए अपने हार के मोती उनके सामने फेंक दिये। संजोगिता ने यह घटना खिड़की में से देख ली और उस मानी हुई भागी दासी के हाथ मोतियों से एक सोने का थाल परिपूर्ण करके भेजा। इस प्रकार अर्थ और अर्थी में संदेश और अभिवादन का प्रसंग और प्रेम का संबंध स्थापित हो गया।

बदला लेने के लिये राजपूत की चुनौती

दूसरे दिन प्रात:काल जयचंद ने चंदवरदाई को वहुत-सी भेंट देकर विदा किया जो एक वहुत भारी महाराजा के सम्मान के अनुकूल थी। अर्थात् मूँगे, मोतियों और जवाहरों की लड़ियाँ, 'शाल, दुशाले, रूमाल और जड़ाऊ सरोपा, पगड़ी, कलँगी और अँगूठी, तीस हाथी और दो सौ घोड़े'। पृथ्वीराज ने सेवक के नाते पान का बीड़ा बनाया। कहने को तो यह महाराजा कन्नौज की कृपाओं पर धन्यवाद की भाँति उपस्थित किया गया था परन्तु इसमें एक गहरा रहस्य भी छिपा था। उसने बीड़े में पान के पाँच पत्ते रखे थे और इस प्रकार मानो एक राजपूत की ओर से दूसरे राजपूत को सामना करने की चुनौती दी गई। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज ने अपने उद्देश्य को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये जयचंद का हाथ इस ज़ोर से दबाया कि उसके नखों से रक्त वह निकला अब रहस्य तो खुल ही गया था युद्ध का विज्ञापन हो गया। राठौर वीरों को एकत्र करने के लिये नगारे पर चोट पड़ी। राजा का हुकुम हो गया कि दिल्लीवालों में से एक भी जीता बच कर न जाने पावे। सबको मार कर गिरा दो।

प्रेमी और प्रेयसी की भेंट

संयोगिता ने अपने रत्न और आभूषण इकट्ठे किये और राजोपम वस्त्र पहन लिये फिर किसी न किसी प्रकार पृथ्वीराज के पास जा पहुँची। हाथ में सोने की धूपदानी लेकर पृथ्वीराज के सिर पर वारा कि बुरी नज़र से सुरक्षित रहें फिर उसके चेहरे पर पुष्प-निर्मित पंखी से हवा करके अपनी सुयोचित भक्ति और पातिव्रत धर्म प्रकट

किया और पान का एक सुंदर बीड़ा देकर प्रेम की प्रतिज्ञा की। परन्तु साथ ही उसे सतर्क भी कर दिया कि जयचंद के पास एक भारी सेना है और तेरे साथ इस समय गिनती के वीर हैं।' पृथ्वी-राज ने उत्तर दिये "प्रिये कोई भय नहीं यद्यपि मेरे साथ बहुत थोड़े वीर हैं तथापि मेरी यह तीच्ण धार वाली तलवार इस भारी सेना में से मार्ग निकाल कर तुझे दिल्ली के राजप्रासाद में पहुँचा देगी।" अब राजकुमारी पालकी में सवार होकर उसके साथ भाग जाने के लिये तय्यार हो गई। पृथ्वीराज ने कन्नौज से उत्तर की ओर छः मील की दूरी पर जाकर डेरे डाल दिये और हवा की तरह जाने वाले हरकारे को दिल्ली भेजा कि मेरी सेना के महावीरों को लाओ कि वह कन्नौज के राठौरों से लड़ते-भिड़ते राजकुमारी को दिल्ली ले चलें। इस पर ११९ शूर-वीर अपने महाराजा पर जान वार देने के लिये आ उपस्थित हुए। उनके पहुँचते ही पृथ्वीराज ने अपने वीरों में से एक को भेजा कि राठौरों को युद्ध के लिये उत्तेजित करे और इस प्रकार राजकुमारी की पालकी के लिये युद्ध किया जाय।

बधू के लिये युद्ध

दोनों ओर के वीर बड़े उत्साह से युद्ध में सम्मिलित हुए। नृसिंहे फूँके गये। तलवारें म्यान से निकल निकल कर चकाचौंध करने लगीं। वह घमासान का रण पड़ा कि शत्रु-मित्र का भेद जाता रहा। दिन भर मार-काट जारी रही। "उस दिन उन्होंने उस समय तक रक्त बहाने से हाथ न खींचा जब तक सिर पर सितारे न चमकने लगे।" जयचंद ने आज्ञा दी कि राजकुमारी की पालकी मैदान में ला रखो कि जिसे विजय मिले वह पालकी उठा ले जाय। उसका उद्देश्य यह था कि पृथ्वीराज स्वयं मैदान में आ जाय और मैं उसे मार डालूँ।

चौहान वीरों ने ललकार कर कहा "पालकी यहाँ रख दो और ठंडे ठंडे घर की राह लो। उधर से राठौर सूरमाओं ने उत्तर दिया 'जी क्यों नहीं ! ज़रा वह पालकी को दिल्ली ले जानेवाले राजपूत सामने तो आयें।" प्रत्येक वीर ने दो दो तलवारें सँभाल लीं और दोनों ओर के वीर मृत्यु को खेल समझ कर युद्ध में जुट गये। पालकी रक्त से उसी तरह लाल हो गई जैसे वधू के पाँव मेंहदी से हो रहे थे। भालों और तीर और धनुष से भी काम लिया गया। परन्तु चौहानों का पल्ला भारी था और पालकी पाँच कोस दिल्ली की ओर और निकल गई।

वधू दिल्ली पहुँचती है

परन्तु कन्नौजवालों ने भी पिंड न छोड़ा। रात दिन बराबर लड़ते लड़ाते चलते रहे। पालकी कभी थोड़ी दूर दिल्ली की ओर आ जाती और कभी कन्नौज की ओर चली जाती थी परन्तु कुल मिला कर यह दिल्ली के पास ही होती जाती थी। सोरों के घाट पर गंगा पार जाती बेर एक और घमासान लड़ाई हुई। दोनों ओर के चुने हुए वीर हाथों में भाले और ढालें लिये एक के सामने एक आकर वीरता दिखाने लगे। परन्तु अब भी खेत चौहानों ही के हाथ रहा और कन्नौज की सेना घटती ही गई। ख़ास दिल्ली के फाटक के सामने जो अंतिम युद्ध हुआ उसमें राठौर-सेना के बचे-खुचे सैनिक भी काम आ गये। आनंद के उत्साह में चंदबरदाई और पृथ्वीराज ने स्वयं पालकी उठा ली और अत्यंत हर्षित हो नगर में प्रविष्ट हुए। चंदबरदाई जय-चंद को संबोधन करके बोला "यदि आपके सब सैनिक काम आ गये तो पृथ्वीराज की भी यही दशा है, इसलिए अब युद्ध व्यर्थ है। शांति से घर जाइए, यह है उस कहानी का अंत

जिससे प्रकट होता है कि राजपूत वीर किस प्रकार बधू को प्राप्त किया करते थे ।*

शेख़ बुरहान राजपूताने में

इस अभागे युग में हिन्दू-मुसलिम झगड़े हमारे लिये इतने स्वाभाविक हो चुके हैं कि उन भले दिनों की स्मृति अत्यन्त सुखकर प्रतीत होती है जब कि राजपूतों की एक बहुत बड़ी श्रेणी में एक मुसलमान दरवेश की लगभग पूजा सी हो रही थी और वह राजपूताने में दस सहस्र वर्ग मील क्षेत्र के एक विस्तृत भू-भाग का नायक बन गया था । यहाँ तक कि सारा भू-भाग उसी के नाम से विख्यात हो गया । जयपुर के मिर्ज़ा राजा (१६२५ ई० से १६६७ ई० तक) के नाम से हम पूर्णतया अभिज्ञ हैं, परन्तु इस समय मैं एक राजपूत शेख़जी का वर्णन कर रहा हूँ जो मोकल जी का बेटा था । मोकल जी अलवर और बीकानेर के बीच के उस भू-भाग का राजपूत शासक था जो पीछे से शेखावाटी के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह १४ वीं शताब्दी के अंत में हुआ है । उन्हीं दिनों एक तपस्वी मुसलमान प्रचारक शेख़ बुरहान ने राजपूतों के हृदय और मस्तिष्क पर ऐसा सिक्का बिठाया कि वह उसे सिद्ध समझने लगे । मोकल ने शेख़ से एक बेटे के लिये विनती की और जब उसके घर लड़का पैदा हो गया तो उसका नाम 'शेख़जी' रखा गया । वहाँ शेख़ बुरहान की क़ब्र पर अब तक छोटे बड़े सब तरह के लोग जुटते हैं । और शेख़ावता राजपूतों के पीले झंडे के ऊपर फ़क़ीर का नीला फरेरा लहराता है । इसी फ़क़ीर से

---

* आल्हा-खंड, पृ० ३६ से ५६ तक

भक्ति प्रकट करने की रीति पर शेख़ावत राजपूत जंगली सुअर का शिकार भी नहीं करते*

दिल्ली का एक शिला-लेख

उन लिपियों में से जो दिल्ली के सम्राटों के शासन-काल पर प्रकाश डालती हैं, मैं आपका ध्यान केवल एक शिला-लेख की ओर आकृष्ट करूँगा। यह पालम का शिलालेख दिल्ली के क़िले में पुरा-तत्त्व के संग्रहालय में रखा हुआ है। यह एक गाँव के कुएँ में लगा था जो वर्त्तमान दिल्ली शाहजहानावाद से केवल १२ मील की दूरी पर स्थित है। इसकी भाषा संस्कृत है। हाँ! अंतिम भाग में एक स्थानीय भाषा है जो हरियाने में बोली जाती थी। यह शिला-लेख अत्यंत गंभीर और समीक्षात्मक अनुशीलन का अधिकारी है। इस पर संवत् १३३७ वि० (तदनुसार सन् १२८०-८१ ई०) खुदा हुआ है, जब कि दिल्ली के सिंहासन पर सुल्तान ग़यास्सुद्दीन बलबन बैठा शासन कर रहा था। संस्कृत में और स्थानीय भाषा में भी दिल्ली को 'ढिल्ली' लिखा गया है। इससे शहर दिल्ली के आरम्भिक नाम पर कुछ प्रकाश पड़ता है। परन्तु इस शिलालेख की वास्तविक महत्ता उन विचारों में है जो पं० योगेश्वर और उसके प्रभाव-गत लोगों ने देश के मुस्लिम शासकों के सम्बंध में प्रकट किये हैं। इसमें मुसलमान शासकों को शाकाकार राजा लिखा गया है और उनके शासनकाल की चर्चा शहाबुद्दीन ग़ोरी से आरम्भ करके क़ुतबुद्दीन ऐबक, शम-शुद्दीन अल्तमश और रज़िया बेगम के शासनकाल को मिलाते हुए उस समय के विद्यमान शासक पर समाप्त की है। रज़िया बेगम के

*टाड, जिल्द २, पृ० १२७८ से १२८२ तक।

नाम के बदले केवल उनकी उपाधि जलालुद्दीन लिखा है। इसलिए कि बलबन सिंहासन पर बैठने के पहिले अपने पूर्व सम्राट् का मंत्री था, दोनों के शासन-काल की, भूरि भूरि प्रशंसा की गई है। शासन की चर्चा इन शब्दों में की गई है।

"वह बादशाह जिसके महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय शासन में सारा देश सुखी और संतुष्ट है। बंगाल के गौड़ नगर से अफ़ग़ानिस्तान के ग़ज़नी नगर तक और दक्षिण में द्राविड़ भू-भाग और रामेश्वर तक हर जगह देश इस तरह सुशोभित हो रहा है जैसे पेड़ों के सौंदर्य्य से वसंत ऋतु में धरती सुशोभित हो जाती है। और इस बादशाह की सेवा में जो अनेक राजा आते जाते हैं उनके मुकुटों से गिरे हुए रत्न की चमक-दमक फैल जाने से सारा देश जगमगा रहा है।"

सेनाओं की शक्ति और गति के सम्बंध में लिखा है, कि गंगा के मुहाने से सिन्ध के मुहाने तक समुद्र से समुद्र तक सारे देश पर उनका अधिकार था और उनकी बदौलत प्रत्येक मनुष्य शांति और सुरक्षा में दिन बिता रहा था। सेना की चर्चा बड़ी विशेषता से की गई है। प्रशंसा करनेवाला कहता है कि "जब से इस महत्त्ववान् सुल्तान ने संसार का बोझ अपने कंधों पर ले लिया है दुनिया को सँभालनेवाले शेष-नाग धरती के बोझ से छुट्टी पा बैठे हैं और विष्णु भगवान् संसार की रक्षा की सुधि छोड़कर क्षीर-समुद्र में सुख से सो रहे हैं।" आगे चल कर यह शिलालेख बताता है कि "इस सुल्तान के न्यायपूर्ण शासन में जिसके अधीन सैकड़ों भारी भारी नगर हैं, ढिल्ली का मनोहर नगर सुख और समृद्धि से पूर्ण है। यह नगर धरती माता की तरह अनंत रत्नों का कोष है; स्वर्गधाम की तरह आनन्द और सौख्य का ठिकाना है, पाताल की तरह बलवान् दैत्यों का निवासस्थान है और माया की तरह मनोमोहन और सुन्दर है।"

उसकी कुछ वैयक्तिक दशा भी लिखी है। उसके तीन रानियाँ थीं। सात लड़के और चार लड़कियाँ। उसने अनेक विस्तृत धर्मशालायें बनवाई थीं जो संभवतः बड़ी राजकीय सड़क पर स्थित थीं*।

इब्न बतूता का वक्तव्य

पश्चिम देशों का यात्री इब्न बतूता सन् १३३३ ई० से १३४६ ई० तक भारतवर्ष में रहा। उसने भारतवर्ष के जो शब्दचित्र खींचे हैं वह बहुत विस्तृत और मनोहर हैं। मैंने एक और पुस्तक† में उसे विस्तार से वर्णन कर दिया है, इसलिए अब यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं समझता। प्रत्युत इसके केवल थोड़े से मनोरंजक स्थलों की चर्चा करूँगा और फिर आपको उस शब्दचित्र पर ध्यान दिलाऊँगा जो हमारे लिये अमीर खुसरो ने खींचा है। इब्न बतूता के वक्तव्य से व्यक्त होता है कि भारत और कबचाक [अज़ाफ़ समुद्र के पास] के बीच घोड़ों का व्यापार ज़ोरों पर था और यह दोनों देशों में आर्थिक सम्बंध का एक साधन था। कबचाक देश में एक अच्छा घोड़ा लगभग चार रुपये को मिल जाता था। परन्तु भारत में उसका मूल्य एक सौ से दो हज़ार रुपये तक पड़ जाता था‡। व्यापारियों के बड़े बड़े समूह जिनमें से हर एक छः छः हज़ार घोड़े रखते थे गोमल के दर्रे की राह से भारतवर्ष में आते थे और सीमा के पास शहर मुल्तान उनके लिए सबसे बड़ी व्यापारी मंडी थी। डाक का बंदोबस्त अच्छा था

---

*मुस्लिम भारतलिपिमाला, जिल्द सन् १९१३-१४ ई०, पृ० ३५ से ४५ तक।

† तीन मुसाफ़िर, पृ० ३२ से ६२ तक।

‡ बतूता, जिल्द, पृ० २७१ से २७४ तक।

और अत्यंत सुदूर स्थानों से राजधानी तक नित्य और शीघ्र समाचार पहुँच जाते थे*। सिन्ध के प्रदेश में सिन्धु नद पर नावों के एक ख़ासे बेड़े का स्थिर प्रबंध था†। सुल्तान मुहम्मद-शाह तुग़लक़ अपनी राजधानी दिल्ली में बड़ी धूम-धाम से शासन कर रहा था। वह पुरस्कार और पारितोषिक देने में बड़ी उदारता से काम लेता था‡। उसकी माता ने भी दान का बड़ा विस्तृत प्रबंध कर रखा था और दरिद्रों के लिये सदावर्त्त, क्षेत्र और दान की जायदादें नियुक्त कर दी थीं। आय की दृष्टि से सम्राट् की नीति यह थी कि भरसक वाणिज्य-कर बंद कर दिये जायँ और इस तरह व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाय§। सिन्धु नद के मुहाने और काठियावाड़ के विस्तृत समुद्रतट के बंदरों के द्वारा और दक्षिण में मलावार के समुद्र-तट के बन्दरों से बहुत विस्तृत परिमाण में सामुद्रिक व्यापार होता था। खम्भायत एक सुन्दर और समृद्ध नगर था और हब्शी लोग अपने सामुद्रिक लड़ाइयों की दृष्टि से इस समय भी वैसे ही प्रतिष्ठित थे‖ जैसे उसके पीछे मुग़लों के शासन में देख पड़ते थे। मलाबार के समुद्र-तट पर चीनी जहाज़ों की (जिनको जुंक कहते हैं) आवा जाई पाई जाती थी¶। बंगाल में यद्यपि शासन की दशा संतोष-जनक न थी, तो भी इस भू-भाग में अन्न-धन की बहुतायत थी और सब कुछ सस्ता था। देश

---

* बतूता, जिल्द ३, पृ० ९५ व ९६।
† बतूता जिल्द ३, पृ० १०९।
‡ बतूता, जिल्द ३, पृ० २४६।
§ बतूता, जिल्द ३, पृ० २८८।
‖ बतूता, जिल्द ४, पृ० ५९ से ६५ तक।
¶ बतूता, जिल्द, ४, पृ० ९१।

में महामारी ने भी डेरे डाल रखे थे *। दुर्भिक्ष के वर्षों में पीड़ितों की सहायता के लिये ठीक ठीक प्रबंध था। सरकारी पदाधिकारी सूचियाँ बनाते थे और नगरों में नियमपूर्वक सहायता पहुँचाने के लिये इन्हें विविध भागों में विभक्त कर दिया जाता था। बूढ़ा हो या बच्चा, स्वतंत्र हो या पराधीन दास, प्रत्येक सहायता योग्य मनुष्य को सरकारी अन्नाभण्डार से एक सेर अन्न नित्य दिया जाता था† ।

अमीर ख़ुसरो के समय की दिल्ली

अमीर खुसरो (सन् १२५३ से १३२५ ई० तक) ने दर्बार और शासक जातियों के साहित्यिक श्रेणियों के सामाजिक जीवन का जो चित्र खींचा है उसमें बहुत से मनोहर अंग हैं। परन्तु साथ ही संकोच और ह्रास के भी चिन्ह देख पड़ते हैं। मनोहर अंगों में उदारता-पूर्ण अतिथि-सेवा सजावट और सौंदर्य्य, ललित-कलाओं की ओर अभिरुचि, रस, विद्वानों और कलावानों के आदर-मान की चर्चा की जा सकती है। चित्र का दूसरा दृश्य पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, अत्यंत कठोर दंड, सिंहासन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में विश्वास का अभाव, विषय-विलासिता, अत्यधिक मदपान, भोग-विलास और गर्ह्य आचार में रँगा दिखाई देता है, पश्चिमोत्तर से मुग़लों के आक्रमण एक दूरगामी सीमा तक सामाजिक और राजनैतिक जीवन के आधारों को बलहीन करने का कारण हुए। खुसरो कुछ काल तक मंगोल लोगों की क़ैद में रह चुका था और उनकी चर्चा उसने कुछ निन्दात्मक शब्दों में की है। लिखता है कि यह लोग भीतर से

---

* बतूता, जिल्द, ३, पृ० ३३४।

† बतूता, जिल्द, ३, पृ० २६०।

इस्पात की तरह शरीर रखते थे और ऊपर से रुई से उसे ढकते थे, उनकी छोटी-छोटी नीली-नीली आँखें, चिपटी नाकें, फैले हुए नथने, चौड़े चकले चेहरे, कुचिया दाढ़ियाँ और लम्बी-लम्बी मूछें उनकी कठोरता और भेड़ियों की सी निष्ठुर रक्त-पिपासा के चिन्ह थे* । ख़ुसरो जिस शहर दिल्ली का वर्णन कर रहा है वह पूर्व से पश्चिम नदी से पहाड़ियों तक और दक्षिण-उत्तर कुतुब के पास लालकोट से उस स्थान तक फैला हुआ था जहाँ पीछे फ़ीरोज़ाबाद शहर बसा । नगर में वास्तुओं में सब से बड़े तीन थे । एक तो जामा मस्जिद, दूसरे माज़ना, तीसरा विस्तृत सरकारी जलाशय जिससे नगर में शुद्ध स्वच्छ जल पहुँचाया जाता था । जामा मस्जिद में एक लम्बा-चौड़ा खुला प्राङ्गण था, नौ गुंबद थे और अनेक मेहराबदार खम्बे बने हुए थे । माज़ना से इनका तात्पर्य संभवत: कुतुब मीनार से है न कि अलाई मीनार से, क्योंकि वह कभी पूर्णता को न पहुँच सका था । अमीर ख़ुसरो कहता है कि इस माज़ने की निचली मंज़िलें लाल पत्थर की थीं । सब से ऊपर की एक मंज़िल संगमरमर की थी, जिस पर गुंबद और सोने का कलश बना हुआ था । पीछे से ऊपर का भाग बिजली गिरने से नष्ट हो गया था । [यह फ़ीरोज़ तुग़लक़ के शासन-काल की घटना है । परन्तु उसने मरम्मत करवा दी थी] सरकारी जलाशय कुतुब मीनार से दो मील या कुछ अधिक उत्तर की ओर था । इसके चारों ओर पहाड़ी भूमि भीतों का काम देती थी । मेंह का शुद्ध जल रोक रखने के लिए ढलवाँ की ओर एक बाँध बना रखा था । ठीक बीच में एक चबूतरा था जिस पर मनबहलाव के लिये एक लम्बी-चौड़ी रावटी बनी हुई थी । दिल्लीवाले बहुधा इस रावटी में सैर करने

---

* कुरानुस्सादैन, प्रस्तावना पृ० ३४ से ३८ तक मूल पृ० ६१ से ६६ तक

को आया करते थे और जब उनको नगर से बाहर जाकर सैर और मन बहलाव की इच्छा होती तो पहाड़ियों पर भी डेरे डाल दिया करते थे* ।

अमीर ख़ुसरो का बाप तुर्क था और माँ रावल राजपूत। वह पटियाले में पैदा हुआ था। बाप की रक्षा से बचपन में ही वंचित हो गया था और माँ के प्रभाव और शिक्षा से वह भारत-माता का सुपूत कहलाने का अधिकारी बन गया। वह अपने भारतीय होने पर गर्व करता था। यद्यपि फ़ारसी भाषा में लिखता था तथापि हिन्दी और तुर्की से पूर्णतया अभिज्ञ था। उसने अपनी रचनाओं में बहुत से हिन्दी-शब्दों का प्रयोग किया है।

मारको पोलो दक्षिण भारत में

जान पड़ता है कि ईसा की १३ वीं और १४ वीं शताब्दी में दक्षिणी भारत की जीवन-व्यवस्था उत्तर-भारत से बहुत भिन्न थी। दक्षिण-भारत के लोग कपड़ा नाम-मात्र को ही पहनते थे। परन्तु सोना, चाँदी, मोती और रत्न के आभूषणों से लदे फँदे रहते थे †। पूरब और पश्चिम दोनों ओर के विस्तृत समुद्र-तट पर विविध जातियों के जहाज़ बहुत आते-जाते रहते थे। उनमें से अधिकतर चीनियों और अरब और ईरान के मुसलमानों के होते थे। तंजोर के आस-पास के भू-भाग में कई सम्पत्तिशाली तटवर्त्ती नगर थे। और नीगापटम के पास चीनी ढंग का बना एक मंदिर चीनियों की स्थिति और उनके प्रभाव का साक्षी है ‡। घोड़ों का व्यापार दक्षिण-भारत में समुद्र के मार्ग से

* किरानुस्सादैन मूल, पृ० २८ से ३७ तक।

† मारकोपोलो, जिल्द २, पृ० २७५.।

‡ मारको पोलो, जिल्द २, पृ० २७२।

और अधिकतर अरब और फ़ारस की खाड़ी के बंदरगाहों के साथ होता था। दक्षिण-भारत में एक ही राज्य में प्रत्येक वर्ष दो सहस्र घोड़े समुद्र के मार्ग से बाहर से आया करते थे *। उत्तर-भारत में घोड़ों का बड़ा व्यापार जितनी उन्नति पर था उसका वर्णन पहले हो चुका है। कबचाकी घोड़े प्राय: भारी भरकम होते थे, विपरीत उनके जो घोड़े अरब से या खाड़ी से आते थे वह हल्के फुल्के और द्रुत-गामी होते थे। लंका के टापू में सेना के आदमी लगभग सब के सब विदेशी मुसलमान थे। मारको पोलो ने उन्हें सारासिन (शारक़ीन-पूर्वी) लिखा है। दक्षिण-भारत में योगी बहुत थे। यह बड़े व्रतशील थे परन्तु जो भोजन करते थे वह अच्छे प्रकार का होता था। प्राय: दूध और चावल खाते थे। प्रति मास दो बार यह लोग एक तेज़ अर्क़ पिया करते थे जिसके बारे में प्राय: समझा था कि उससे उनकी आयु बढ़ जाती है। मारको पोलो के विचार में यह गन्धक और पारे का बना हुआ होता था†। परन्तु संभव है कि यह वस्तुत: भंग से तैयार किया जाता हो। यह लोग बिलकुल नंगे धड़ंगे फिरा करते थे और शरीर पर गाय के गोबर की राख मल लेते थे। उनका कहना था कि हम बहुत लम्बी-लम्बी आयु पाते हैं और इब्न बतूता के वर्णन से जान पड़ता है कि सर्व-साधारण का विश्वास था कि यह योगी सिद्ध हैं‡। खाना खाने में यह लोग थाली और कटोरे के बदले पत्ते बर्तते थे। मारको पोलो कहता है कि यह लोग बड़े निष्ठुर पाखण्डी और कृतघ्न थे और इनके मुक़ाबिले में पश्चिमी तट के व्यापारियों के संबध में लिखता है कि वह बात के धनी थे§।

---

* मारको पोलो, जिल्द २, पृ० २८४।

† मारको पोलो, जिल्द २ पृ० ३००।

‡ बतूता, जिल्द ४, पृ० ३३ आदि।

§ मारको पोलो, जिल्द २, पृ० २६१ और ३०२।

सामाजिक विषमताओं को घटाने के प्रयत्न

इस काल-विभाग में तीन बड़े ज़बरदस्त और शक्तिशाली सम्राट् हुए हैं। ( ) अलाउद्दीन ख़िलजी (१२५६ से १३१६ ई० तक), (२) मुहम्मद शाह तुग़लक़ (१३२५ ई० से १३५१ ई० तक), (३) फ़ीरोज़-शाह तुग़लक़ (१३५१ से १३८८ ई० तक) इनके शासन-काल में बहुत सी आर्थिक परीक्षायें की गईं। अलाउद्दीन ने थोड़ी बहुत समानता और मेल पैदा करने का प्रयत्न किया। उसने गर्व, अभिमान और पूँजीवाद का अंत करने के लिये जागीरें ज़ब्त कर लीं और अमीर-ग़रीब सबको समान बना दिया। खाने की वस्तुओं को सस्ता करने के लिए दर नियत कर दिये और ढलाई को भी नियमित और सुप्रबंधित कर दिया। प्रत्युत उसे शासन के अधीन करने का प्रयत्न किया। इन आज्ञाओं के विरुद्ध आचरण करने के लिये उसने कड़े से कड़े दंड नियुक्त किये। यद्यपि जियाउद्दीन बर्नी ने इन आज्ञाओं की अत्यंत प्रशंसा की है तथापि यह बात संदिग्ध है कि जिस दुर्भाग्य और विपत्ति का यह नाश किया चाहता था वह वस्तुतः दूर हो गई या उसमें और भी वृद्धि हो गई। और इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं है कि इन सब आज्ञाओं और क़ानूनों का उसकी मृत्यु के साथ ही अंत हो गया। उसने वस्तुतः दरिद्रता का नाश करने के बदले धन, सम्पत्ति, गुण और कला और उपज के साधनों को संकुचित कर दिया। सुरापान को एक-दम बंद करने के बारे में उसकी आज्ञायें किसी समय भी इष्ट प्रभावोत्पादक सिद्ध न हुईं*।

---

* एलियट, जिल्द ३, पृ० १६२ से १६७ तक।

मुद्रा सम्बंधी सुधार

पहले वर्णन हो चुका है कि मुहम्मद शाह तुग़लक़ ने चुंगी और सीमा आदि के विविध कर उठाकर व्यापार को प्रोत्साहित करने का यत्न किया था। टकसाल और सिक्कों के विषय में इसके प्रयत्न सराहनीय हैं। इसके सिक्के रूप और बनावट और कला की दृष्टि से इस बात के साक्षी हैं कि इन पर विशेष ध्यान दिया गया था। इसके एक सौ निन्यानवे ग्रेन तोल के गोल सोने के दीनार के किनारों पर स्पष्ट लकीरें बनाई जाती थीं कि धूर्त्त लोग उसे रेती से रगड़ कर सोना न निकाल लें। चाँदी के टंके में 'जो ६४ जेटल का होता था' १७५ ग्रेन शुद्ध चाँदी के डालने के आदर्श पर व्यवहार होने लगा। इस दृष्टि से टंका और आजकल के रुपये में जिसका कुल वज़न मिलावट के साथ साथ १८० ग्रेन है कुछ भेद न था। इसी आदर्श पर टंके की विविध अंशों की क़ीमत के सिक्के भी बनाये गये। उसने सुन रखा था कि उस काल में चीन और ईरान में मूल्य वाले सिक्कों के सिवाय चिन्हवाले चलन सार सिक्के भी बनाये जा रहे हैं, इस पर इसने विविध मात्राओं की कच्ची धातुओं के मेल से यही काम लेने का उद्योग किया। परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि इस तरह बाज़ार में सिक्कों का आदर और मूल्य घट रहा है तो इस विचार का परित्याग कर दिया। उस काल में सोने और चाँदी के सिक्कों में परस्पर प्राय: ८ और १ या ७ और १ का संबंध था। उसके मुक़ाबले में आजकल इन धातुओं में २२ या २३ और १ की निष्पत्ति है। उन दिनों दक्षिण से प्रचुर धन प्राप्त होने के कारण राजकीय कोष में सोने की रेल-पेल थी*।

---

* टामस, पृ० २१७ से २६१ तक।

बेकारी के प्रश्न पर शासन का उद्योग

फ़ीरोज़ शाह तुग़लक़ ने अपनी प्रजा की बेकारी की समस्या को हल करने के लिए एक योजना की थी। दुर्भाग्य से हमें उसका बहुत कम विवरण मिला है। नगर के सब बेकार आदमियों को बादशाह की सेना में उपस्थित किये जाने की आज्ञा थी और उन्हें योग्यतानुसार काम दिया जाता था। लिखने वालों को सरकारी दफ़्तरों में लिखने-पढ़ने का काम मिल जाता था और जिन लोगों में वाणिज्य-विषयक कुछ समझ-बूझ दिखाई देती थी उन्हें ख़ान्-जहाँ के सुपुर्द किया जाता था। ख़ान्-जहाँ के अधीन संभवत: रसद और हाथ के काम के विभाग थे। इनका संबंध विविध विभागों से था, जैसे बावर्ची ख़ाने, पशुशाला, बत्ती बनाने, पानी गरम करने आदि के विभाग। इन विभागों के वार्षिक व्यय तीन लाख बीस हज़ार रुपये की रक़म के होते थे। उस समय एक रुपये में आजकल की अपेक्षा अधिक वस्तुयें मिल जाती थीं। इसके सिवाय तोशा ख़ाना और फ़र्राशी के विभाग भी स्थापित थे। यदि कोई मनुष्य किसी विशेष अमीर की सेवा में रहने का इच्छुक होता तो उसे वहीं नौकरी दिला दी जाती थी*।

सहायता के काम और सार्वजनिक वास्तु-निर्माण

इनके सिवा एक 'दीवाने ख़ैरात' अर्थात् दान-कार्यालय भी था। चिकित्सालय या अस्पताल में न केवल रोगी और विपद्ग्रस्त लोगों की चिकित्सा की जाती थी, प्रत्युत उनके खाने-पीने के व्यय का दायी

---

* एलियट, जिल्द ३, पृ० ३५५ से ३५७ तक।

भी राज्यकोष होता था*। यह सब कुछ था परन्तु फ़ीरोज़शाह की सदा के लिए प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण उसका सार्वजनिक वास्तु-निर्माण है। उसने न केवल स्वयं बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं प्रत्युत इस सिलसिले में एक ऐसा काम भी किया जिसके उदाहरण भारतवर्ष में कम मिलते हैं। अर्थात् वह अपने पूर्वकाल के वस्तुओं के सुधार और जीर्णोद्धार को अपना महत्त्वशाली और धार्मिक कर्तव्य समझता था। इसने बहुत से नगर, गढ़, महल, सिँचाई के बाँध, मस्जिद, मक़बरे, मदर्से और सरायें बनवाईं। बाग़ लगवाये, नहरें खुदवाईं, और कई पुल भी बनवाये †। उसने नहरों का दोहरा सिल-सिला क़ायम किया और इस प्रकार अपने नये शहर हिस्सार फ़ीरोज़ा के लिये (जो अब हिस्सार कहलाता है और इसी नाम के ज़िले का मुख्य स्थान है) सतलज और जमुना से पानी ले आया। नहरों के कारण खेती में बड़ी उन्नति हुई और लोगों को फल उपजाने में प्रोत्साहन मिला। इन नहरों का खोज अब भी मिल सकता है, और अँग्रेज़ी शासन के समय की नहरें खोदते समय इनसे थोड़ा-बहुत लाभ भी उठाया गया है। उस समय के मुसलमान विद्वानों और शास्त्रियों से बहुत-कुछ विचार और तत्त्वान्वेषण के बाद फ़ीरोज़शाह ने सिँचाई पर पानी का कर लगाने की रीति का भी आरंभ किया‡।

उपसंहार

अब हम भारत के मध्ययुग की सामाजिक और आर्थिक जीवन के कुछ अंगों पर विचार कर चुके हैं। यद्यपि विस्तार के भय ने

* एलियट, जिल्द ३, पृ० ३६१।

† एलियट, जिल्द ३, पृ० २९८ से ३०१ तक।

‡ एलियट, जिल्द ३, पृ० २९८ से ३०१ तक।

और समय की संकीर्णता ने केवल चुने हुए स्थलों पर सरसरा निगाह डालने की मुहलत दी है, परन्तु आशा है कि किसी हद तक इस विषय के सम्बन्ध में मनोरंजकता उत्पन्न करने और आपको इस बात का विश्वास दिलाने में सफलता हो गई होगी, कि हमारे मध्ययुग की सामाजिक जीवन के संबंध में प्राय: जितनी कल्पना की जाती है, उससे अत्यधिक सामग्री मौजूद है। हमें इसका परिशीलन जातिगत, वंशगत या धार्मिक पक्षपात की शृङ्खलाओं से मुक्त होकर अत्यंत विनयशीलता और उदारता से करना चाहिए। इस तरह अनुशीलन करने, और फिर इससे जो निष्कर्ष निकलें चाहें वह कैसे ही तुच्छ क्यों न हों उन्हें हिन्दुस्तानी पढ़ने वाले लोगों की सेवा में उपस्थित करने से हम राष्ट्र के निर्माण के काम को बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकते हैं, जिसमें भविष्य के निर्माण के लिये भूत काल से सुदृढ़ आधारों को काम लेने की अत्यंत आवश्यकता होती है।

समाप्त

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका